सुगणाबाई बड़जाते ग्रन्थ-माला-४

दूसरी बार : मार्च १९५०



मूल्य-[illegible] रुपया १-१२-०



प्रकाशक :
मूलचन्द्र बड़जाते
सहायक मंत्री,
भारत जैन महामण्डल वर्धा

मुद्रक :
नारायणदास जाजु
मुख्य प्रबन्धक
श्रीकृष्ण प्रिंटिंग वर्क्स वर्धा

समर्पण

सौ० श्रीमती अजवाली को

जिनकी सप्रेम सहचारिता के बिना

साहित्य-क्षेत्र में

मैं कुछ भी नहीं कर सकता

सादर समर्पण

बेचरदास

प्रकाशक की ओर से

पहली बार 'महावीर-वाणी' सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, की ओर से जनवरी सन् १९४२ मे प्रकाशित हुई थी। उसके बाद महामण्डल की ओर से, सुगणाबाई ग्रन्थमाला के अन्तर्गत ही, इसका केवल हिन्दी अनुवाद-अश प्रकाशित किया गया और प्राय: अमूल्य ही वह वितरित हुआ।

अब यह पुस्तक अपने पूर्व और पूर्ण रूप में सम्पादक और प्रकाशक की अनुमति पूर्वक प्रकाशित की जा रही है यह हमारे लिए प्रसन्नता की बात है।

इस महंगाई में भी मूल्य में अधिक वृद्धि नहीं की गई है। हम चाहते हैं कि इस 'वाणी' का घर-घर मे प्रचार हो।

सुगणाबाई-ग्रथमाला श्री. चिरंजीलालजी बड़जाते की मॉ की स्मृति में चल रही है और यह उसका चौथा पुष्प है। इस की बिक्री से प्राप्त होनेवाली रकम से यथा-शक्ति दूसरे प्रकाशन भी भेट किए जा सकेंगे।

मुख-पृष्ठ का चित्र सुरुचि-सम्पन्न कला-प्रिय श्री ए० जी० नन्दनवार ने बनाया है। उनके 'स्नेह' के मूल्य को 'आभार' मानकर कम करना हमारे लिए उचित नहीं है।

आशा है, इस पुस्तक का समाज में यथोचित आदर और उपयोग होगा।

दृष्टि-दोष से यदि कुछ अशुद्धियॉं रह गई हों तो कृपया पाठक सुधार लें।

पन्ना भुवन, भुसावल
वीर-जयन्ती, २४७६
ता० ३१ मार्च १९५०

फकीरचन्द एन्० जैन
प्रबन्ध मन्त्री,
भारत जैन महामण्डल

सम्पादकीय

[प्रथम संस्करण से]

महावीर-वाणी के इस रूप में आने की एक लम्बी कहानी है। बहुत दिनों से मेरी इच्छा थी कि एक ऐसे छोटे-से ग्रन्थ के संकलन का आयोजन होना चाहिए जो जैनधर्म के प्रमुख अगादि शास्त्रों का दोहन हो और जिसमे जैनधर्म का सर्वधर्मसमभाव-पूर्ण कार्य अच्छी तरह से प्रतिबिम्बित हो सके। जब मेरे स्नेही विद्यार्थी श्री शान्तिलाल वनमाली शेठ (न्यायतीर्थ, अध्यापक जैन गुरुकुल ब्यावर) ने जैन सूत्रों में से ऐसा संकलन करके मुझे दिखाया तो मैंने समझा कि मेरा संकल्प सिद्ध हुआ।

उक्त संकलन का संशोधन होने के बाद उस पर मेरे मित्र पण्डित प्रवर प्रज्ञाचक्षु श्री सुखलालजी संघवी (आचार्य जैनशास्त्र, हिन्दू विश्व-विद्यालय, काशी) की वेधक दृष्टि फिरी और पुनः उपयोगी संशोधन हुए। इस प्रकार 'महावीर-वाणी' प्रस्तुत हुई।

साथ ही 'सर्वारम्भाः तण्डुलप्रस्थमूलाः' न्याय से उसके लिए हमारे चिर-परिचित एक उदार मारवाडी सज्जन श्री मानमलजी गोलेच्छा [प्रतिनिधि शंकरलाल मानमलजी, खीचन (फलौधी, मारवाड़)] से अर्थ-सहायता भी उपलब्ध हो गई।

वह विद्याप्रेमी और विद्योपासक हैं, ज्ञानप्रचार और जनहित में सदैव दत्तचित्त रहते हैं और राष्ट्र प्रेम में रंगे हुए हैं। 'महावीर-वाणी' की रामकहानी सुनते ही उन्होंने सत्वर भाई शान्तिलाल को उचित पारिश्रमिक-पारितोषिक भेंट करके उसके सम्पादन के लिए मुझे उत्साहित किया।

भाई मानमलजी की इच्छा थी कि 'महावीर-वाणी' का अधिक-से-अधिक प्रचार हो, अतः उनके परामर्श से इसे 'सस्ता-साहित्य मंडल' (नई दिल्ली) द्वारा प्रकाशित कराने का निश्चय किया गया। मण्डल के संचालक-मण्डल से इसके लिए शीघ्र ही स्वीकृति प्राप्त हो गई और उसीका फल है कि यह ग्रंथ पाठकों के सामने है।

भाई मानमलजी ने सेवा-भावना से प्रेरित होकर तथा अपने काका की स्मृति में आयोजित 'गोलेच्छा ग्रंथमाला' के अंतर्गत निकालने के पूर्व निश्चय का परित्याग करके यह ग्रन्थ प्रकाशनार्थ 'सस्ता-साहित्य-मण्डल' को दिया है। अतः सबसे अधिक धन्यवाद के पात्र वे हैं। 'सस्ता-साहित्य-मण्डल' के संचालक का भी मैं विशेष ऋणी हूँ।

मूलपाठ के ठीक-ठीक संशोधन तथा सम्पादन का भार भाई मानमलजी का सौंपा हुआ मैंने उठाया है और दिल्ली निवासी भाई गुलाबचंद जैन के प्रबल अनुरोध से भारत प्रसिद्ध, समन्वय

यह द्वितीय संस्करण

'महावीर-वाणी' का द्वितीय संस्करण प्रकाशित करने के अवसर पर मुझे मालूम हुआ कि मेरे इस छोटे-से प्रयत्न को मानव-समाज ने बिना किसी धार्मिक और साम्प्रदायिक भेद-भाव के अपनाया है।

भगवान् महावीर का सन्देश पुरातन होने पर भी आज पुनः इसकी आवश्यकता आ पड़ी है कारण विश्व-युद्ध से मानव-समाज मे त्राहि-त्राहि मच रही है और इस कारण वह अपने आपको अशरण और निस्सहाय पा रहा है। क्या युरोप, क्या एशिया, क्या अमेरिका और इसी प्रकार अपने देश भारतवर्ष का भी तो यही हाल है न? युद्ध अनेक प्रकार के होते हैं अर्थ-युद्ध, व्यापार-युद्ध, राष्ट्र-युद्ध, काम-युद्ध, विद्या-युद्ध और धर्म-युद्ध मजहबी युद्ध आदि। सबका मूल जड़ लोभ, अज्ञान और अहंता है। इस युद्ध को मिटाने के लिए 'महावीर-वाणी' की औषधि रामबाण का काम देगी। जो भी इसका विवेक और पथ्य पूर्वक जीवन मे उपयोग करेगा वही विश्ववन्द्य महात्मा गाधी की तरह अयुद्ध बनकर "असाधुं साधुना जिने" ("साधुत्व से असाधु को जीतना") साधुत्व से असाधु को जीतनेवाला बन सकेगा। और धर्माचरण का प्रत्यक्ष फल तो यही है।

मुझे यह भी मालूम हुआ है कि स्वर्गीय बा० पूर्णचन्दजी नाहर के सुपुत्र बा० विजयसिंहजी नाहर ने अपनी लगभग ढाई

वर्ष की लम्बी जेल-यात्रा के समय में इस पुस्तक का बंगला अनुवाद कर डाला है। इसी प्रकार सुना है कि लङ्का में इस पुस्तक का सिलोनी (सिंहल) भाषा मे अनुवाद कराने की तैयारी हो रही है।

प्रायः सभी जैन सम्प्रदायों के मुनियों, यति और पण्डितों आदि ने इस पुस्तक का स्वागत किया है। बहुत-से जैन मुनियों ने तो अपने वर्षावास में इसके द्वारा व्याख्यान आदि भी दिये हैं।

अब पुस्तक केवल जैनों के हाथ में न रहकर सर्वधर्म सममाव और युगधर्म को पहचानने के नाते अजैन जनता में भी फैली है।

अनेक समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं ने इसकी सम्मानपूर्ण समालोचना की है और विशाल हृदय से स्वागत किया है; एतदर्थ वे सब धन्यवादार्ह हैं।

अन्य बहुत-से मित्र जिनमे विशेष रूप से देश-सेवक भाई बा० विजयसिंहजी नाहर कलकत्ता निवासी ने जेल से और मेरे परम स्नेही भाई गुलाबचदजी जैन देहली निवासी ने जो जो अत्युपयोगी सुधार मुझे सूचित किए थे, उनके अनुसार प्रस्तुत संस्करण मे, जिन-जिन पद्यों का उपयोग इस संग्रह में किया गया है, उनके सब मूल स्थलों की एक सूची गाथाओं या पद्यों की संख्या सहित दी जा रही है। मैंने 'पद्य' और 'गाथा' शब्दों का एक ही अर्थ में उपयोग किया है। छन्द-शास्त्र के पारिभाषिक 'गाथा' शब्द का मैंने उपयोग नहीं किया है, इस बात को अवश्य ध्यान में

रखना चाहिए। अकार-आदि-क्रमशः गाथाओं की सूची (Index) इसके साथ जोड़ दी गई है। पारिभाषिक शब्दों का एक कोष भी दिया गया है।

अन्त में मेरे परम-स्नेही भाई गुलाबचन्दजी जैन तथा देश-भक्त बा० विजयसिंहजी नाहर का उनके अत्युपयोगी सुझावों की सूचनाओं के लिए बहुत कृतज्ञता-पूर्वक स्मरण करता हूँ।

दूसरे संस्करण के मुद्रण में अनेक प्रकार की नकल तथा सूचियाँ तैयार करने और दूसरे भी फुटकर कार्यों में मेरे परम स्नेही विद्यार्थी उपाध्याय कवि मुनि अमरचन्दजी और गुलाबचन्दजी जैन ने अनथक परिश्रम किया है और अकारादि सूची तो मेरे ज्येष्ठ पुत्र भाई प्रबोधचन्द्र पण्डित ने स्वयं ही अपनी सुरुचि से बना दी है। भाई प्रबोध बम्बई-विश्व-विद्यालय के प्रथम श्रेणी के स्नातक हैं पारङ्गत एम० ए० हैं और अधिकतर विद्या में सुरुचि रखने वाले हैं। महावीर-वाणी के छपकर प्रकट होने पर भाई प्रबोध लन्दन युनिवर्सिटी के पी-एच० डी० होकर भारत पहुँचेंगे। ये तीनों मेरे अति निकट के स्व-जन हैं। अतः आभार की अपेक्षा उनका सादर स्मरण करना ही विशेष उचित होगा।

एक बात खटकती है कि 'महावीर-वाणी' में भगवान् महावीर की ऐतिहासिक मानवता का परिचय नहीं दिया जा रहा है। मित्रों ने सूचित भी किया था, परन्तु परिचय संक्षेप मे लिखना सम्भव नहीं और विस्तार से लिखने में कागजों का

नियमन रोक रहा है। अतः कागज की सुलभता होने पर फिर कभी श्रमण भगवान् महावीर के ऐतिहासिक मानव-चरित्र का परिचय लिखने का सकल्प है।

पुस्तक वर्धा में छपी है। प्रकाशक भाई चिरंजीलालजी बड़जाते हैं जो हमारे विशेष स्नेही हैं। उन्होंने अपनी मातृ-स्मृति की ग्रथमाला मे प्रस्तुत पुस्तक छापी है। प्रूफ संशोधन इतनी दूर से मैं स्वयं नहीं कर सका हूँ, परन्तु 'जैन-जगत' के सह-सम्पादक भाई जमनालालजी जैन ने किया है। प्रकाशक और संशोधक दोनों धन्यवादार्ह हैं।

वीर सं० २४७६,
वि० सं० २००६,
अक्षय तृतीया
२२ / व, भारती निवास सोसाइटी
एलिस ब्रिज, अहमदाबाद

बेचरदास दोशी

प्रस्तावना



सन् १९३५ से सन् १९३८ ई० तक, सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली का सदस्य होने के कारण, मुझको, प्रति वर्ष, ढाई तीन महीने, माघ-फाल्गुन-चैत्र में, नई दिल्ली मे रहना पड़ा। दिल्ली निवासी श्री गुलाबचन्द जैन, वहाँ, कई बेर, मुझसे मिलने को आये, और किसी प्रसंग में, श्री बेचरदासजी की चर्चा उन्होंने की। सन् १९३९ में, मार्च के महीने में, गुलाबचन्द जी, किसी कार्य के वश, काशी आये, मुझसे कहा कि श्री बेचरदास जी ने, जो अब अहमदाबाद कालिज में प्राकृत भाषा और जैन दर्शन के अध्यापक हैं, "महावीर-वाणी" नाम से एक ग्रन्थ का संकलन किया है, और उनकी बहुत इच्छा है कि तुम (भगवान्दास) उनकी प्रस्तावना लिख दो। मैंने उनको समझाने का यत्न किया, मेरा वयस ७२ वर्ष का, आँखें दुर्बल; सब शक्ति क्षीण; तीन चार ग्रंथ अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत के, जिनके कुछ अंश लिख और छप भी गये हैं, पूर्ण करने को पड़े हुए; अन्य, सामाजिक जीवन मे अनिवार्य, झंझटों की भी कमी नहीं, थोड़ा भी नया काम उठाना मेरे लिये नितांत अनुचित, सर्वोपरि यह कि मैं प्राकृत भाषा और जैन साहित्य से अनभिज्ञ। पर गुलाबचंद जी ने एक नहीं माना; दिल्ली जाकर,

पुनः पुनः मुझको लिखते ही रहे, कि श्री बेचरदास जी ने निश्चय कर लिया है, कि बिना मेरी प्रस्तावना के, ग्रंथ छपेगा ही नहीं। इस प्रीत्याग्रह के आगे, मुझको मानना ही पड़ा।

श्री गुलाबचन्द जी, "महावीर-वाणी" की हस्त-लिखित प्रति ले कर, स्वयं काशी आये। मैंने समग्र ग्रंथ, अधिकांश उनसे पढ़वा कर, शेष स्वयं देख कर, समाप्त किया। महावीर-स्वामी की, लोक के हित के लिये कही, करुणामयी, वैराग्य भरी, वाणी को सुन और पढ़ कर, चित्त मे श्रान्ति के स्थान मे प्रसन्नता ही हुई, और सात्त्विक भावों का अनुभव हुआ।

महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध, कुछ वर्षों की छुटाई बड़ाई से, समकालीन हुए यह निर्विवाद है। किन्तु इन दोनों महापुरुषों के जन्म और निर्वाण की ठीक तिथियों के विषय में ऐतिह्यविदों में मतभेद है; तथापि यह सर्व-सम्मत है कि विक्रम पूर्व छटी शताब्दी मे दोनों ने उपदेश किया। जैन सम्प्रदायों का विश्वास है कि महावीर का, जिनका पूर्व-नाम "वर्तमान" है, जन्म, विक्रम पूर्व ५४२ और निर्वाण वि० पू० ४७०, में हुआ।

उस समय मे "लिपि" कम थी, "श्रुति" और "स्मृति" की ही रीति अधिक थी, गुरु के, ऋषि के, महापुरुष के, आचार्य के वचनों को श्रोतागण सुनते और स्मृति मे रख लेते थे। महावीर के निर्वाण के बाद दूसरी शताब्दी में बड़ा अकाल पड़ा, जिनानुयायी, "क्षपण"

र्मी "श्रमण" कहलाने वाले, साधुओं का संघ बहुत बिखर गया; कंठ करने की परम्परा में भंग हुआ; बहुत उपदेश लुप्त हो गये। अकाल मिटने के बाद, स्थूलभद्राचार्य की देखरेख में, पाटलिपुत्र में संघ-का बड़ा सम्मेलन हुआ; बचे हुए उपदेशों का अनुसन्धान और राशीकरण हुआ; पर लिखे नहीं गये। महावीर-निर्वाण की नवीं शताब्दी (वीर-निर्वाण ८२७-८४० तक) में, मथुरा मे स्कंदिलाचार्य, और वलभी मे नागार्जुन, के आधिपत्य में, सम्मेलन होकर, उपदेशों का सग्रह किया गया, और उन्हे लिखवाया भी गया। निर्वाण की दसवीं शताब्दी में बहुत से श्रुतधारी साधुओं का विच्छेद हुआ। इस बेर, देवर्धिगणि क्षमा श्रमण ने अवशिष्ट संघ को वलभी नगर मे एकत्र करके उक्त दोनों, माथुरी और वलभी वाचनाओं, की समन्वयपूर्वक लिपि कराई। जिनोक्त सूत्र के नाम से प्रसिद्ध वाक्यों के सग्रहीता, यह देवर्धिगणि ही माने जाते है। उमा-स्वाति के "तत्त्वार्थाधिगम सूत्र", जो प्रायः जिननिर्वाण के ४७१, अर्थात् विक्रम संवत् के प्रारम्भ, के लगभग, किसी समय में, लिखे गये, और जिनमें जैनदर्शन का सार बहुत उत्तम रीति से कहा है, वे इनसे भिन्न है। देवर्धिगणि के सकलित सूत्र, आचाराग, सूत्रकृताग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, दशवैकालिक सूत्रादि को देखने का मुझे अवसर नहीं मिला। श्री बेचरदासजी ने, उन्हीं सूत्रों में से, स्वयं महावीर स्वामी के कहे श्लोकों का उद्धरण और संदर्भण, प्रस्तुत ग्रथ "महावीर-वाणी" मे किया है।

२५ सूत्रों,वा अध्यायों में, ३४६ प्राकृत श्लोकों, और उनके हिन्दी अनुवादों का संग्रह है। मुझको नहीं ज्ञात है, कि जैन वाङ्मय में इस प्रकार का कोई ग्रंथ, प्राचीन, है वा नहीं। प्रायः न होगा; अन्यथा, श्री बेचरदास जी को यह परिश्रम क्यों करना होता। बौद्ध वाङ्मय मे, एक छोटा, पर बहुत उत्तम ग्रंथ, "धम्म-पद" के नाम से, वैसा ही प्रसिद्ध है; जैसा वैदिक वाङ्मय में "भगवद्गीता"; "धम्म-पद" भी स्वयं बुद्धोक्त पद्यों का संग्रह कहा जाता है। संभव है कि "महावीर-वाणी", जैन सम्प्रदाय में प्रायः वही काम देने लगे, जो बौद्ध सम्प्रदाय में धम्मपद देता है।

भेद इतना है कि, "महावीर-वाणी" के अधिकतर श्लोक, संसार की निन्दा करने वाले, वैराग्य जगाने वाले, यतिधर्म संन्यास-धर्म सिखाने वाले हैं, गृहस्थोपयोगी उपदेश कम, हैं, पर हैं; विनय सूत्राध्याय में कितने ही उपदेश गृहस्थोपयोगी हैं।

मुझे यह देख कर विशेष आनन्द हुआ कि बहुतेरे श्लोक ऐसे हैं, जिनके समानार्थ श्लोक प्रामाणिक वैदिक और बौद्ध ग्रंथों में भी बहुतायत से मिलते हैं। प्रथम मंगलाध्याय के बाद के ६ अध्यायों में पाँच धर्मों की प्रशंसा की है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। मनुस्मृति, बौद्ध पंचशील, योग-सूत्र आदि, इन्हीं पाँच का उपदेश करते हैं। ये, गृहस्थ, श्रावक, उपासक के लिये भी, देश-काल-समय के (शर्त के) अवच्छेद के साथ, उपयोगी हैं; और यति,

संन्यासी, भिक्षु, क्षपण, श्रमण के लिये भी अधिकाधिक मात्रा में, उन अवच्छेदों को दिन दिन कम करते हुए, परमोपयोगी हैं, जब वह सर्वथा समयों (शर्तों) से अनवच्छिन्न हो जाते हैं, तब "महाव्रत" होकर सद्यः मोक्ष के हेतु होते हैं।

> अहिंस-सच्चं च, अतेणगं च, तत्तो-य बम्भं, अपरिग्गहं-च,
> पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि, चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विदू-।
>
> धम्मसुत्त-श्लोक २

ब्राह्मण सूत्राध्याय के भाव वैसे ही हैं, जैसे महाभारत के शांति-पर्व में कहे हुए प्रायः बीस श्लोकों के हैं, जिनमें से प्रत्येक के अन्तिम शब्द यह हैं, "तं देवा ब्राह्मणं विदुः"। धम्मपद में भी "ब्राह्मण वग्गो" में ऐसे ही भाव के श्लोक हैं।

> न जटाहि न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो;
> यम्हि सच्चं च धम्मो च, सो सुची, सो च ब्राह्मणो।
> न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्ति-सम्भवं,
> अकिंचनमनादानं; तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं। (धम्मपद)

"महावीर-वाणी" में कहा है,

> अलोलुयं, मुहाजीविं अणगारं अकिंचनं;
> असंसत्तं गिहत्थेसु, तं वयं बूम माहणं।

कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होई खत्तियो,

वइसो कम्मुणा होई, सुद्दो हवइ कम्मुणा ।

जैन आगम उत्तराध्ययन, अ० २५, गाथा २८-३२

कुछ लोगों को यह भ्रांति होती है कि महावीर और बुद्ध ने वर्णव्यवस्था को तोडने का यत्न किया । ऐसा नहीं है; उन्होंने तो उसको केवल सुधारने का ही यत्न किया है। महाभारत मे पुनः पुनः स्पष्ट शब्दों मे, वही बात कही है, जो महावीर ने कही है।

न योनिर्नापि संस्कारो, न श्रुतं न च संततिः,

कारणानि द्विजत्वस्य; वृत्तमेव तु कारणम् ।

न विशेषोऽस्ति वर्णानां, सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्

ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि, कर्मभिर्वर्णतां गतम् ।

महावीर ने और बुद्ध ने, दोनों ने, "कर्मणा वर्णः" के सिद्धान्त पर ही जोर दिया । यही सिद्धान्त, उत्तम वर्ण-व्यवस्था का मूल मंत्र है; इसके न मानने से, इसके स्थान पर "जन्मना वर्णः" के अपसिद्धान्त की स्थापना कर देने से ही, भारतीय जनता की वर्त्तमान घोर दुर्दशा हो रही है ।

यह खेद का स्थान है कि जैन सम्प्रदाय में भी व्यवहारतः जिनोपदिष्ट सिद्धान्त का पालन नहीं होता; प्रत्युत उसके विरोधी अप-सिद्धान्त का अनुसरण हो रहा है । मैं आशा करता हूँ, कि

"महावीर-वाणी" के द्वारा, जैन सम्प्रदाय का ध्यान इस ओर आकृष्ट होगा, और सम्प्रदाय के माननीय विद्वान् यति जन, इस, महावीर के, समाज और गार्हस्थ्य के परमोपयोगी उपदेश, आदेश का जीर्णोद्धार अपने अनुयायियों के व्यवहार में करावेंगे।

अन्त में, इतना ही कहना है कि मैं, प्रकृत्या, समन्वयवादी, सम्वादी, सादृश्यदर्शी, ऐक्यदर्शी हूँ; विरोधदर्शी, विवादी, वैदृश्यान्वेषी, भेदावलोकी नहीं हूँ। मेरा यही विश्वास है कि सभी लोक-हितेच्छु महापुरुषों ने उन्हीं उन्हीं सत्यों, तथ्यों, कल्याण-मार्गों का उपदेश किया है, जीवन के पूर्वार्ध में लोक-यात्रा के साधन के लिये, और परार्ध में परार्थ-मोक्ष-निर्वाण-निःश्रेयस के साधन के लिये; भारत में तो महर्षियों ने, महावीर स्वामी ने, बुद्ध देव ने, मुख्य मुख्य शब्द भी प्रायः वही प्रयोग किये हैं।

'महावीर-वाणी' के अन्तिम 'विवाद सूत्र' में, कई वादों की चर्चा कर दी है। और उपसहार बहुत अच्छे शब्दों में कर दिया है

एवमेयाणि जम्पन्ता, बाला पंडितमाणिणो,
निययानियय सन्त, अयाणन्ता अबुद्धिया।

अर्थात्,

एवमेतानि हि जल्पन्ति, बालाः पण्डितमानिनः,
नियताऽनियतं सन्तम् अजानन्तो ह्यबुद्धयः।

यही आशय उपनिषत् के वाक्य का है,

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः,
स्वयंधीराः पण्डितम्मन्यमानाः,
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढाः,
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।

आज काल के पांडित्य मे, शब्द बहुत, अर्थ थोड़ा; विवाद बहुत, सम्वाद नहीं; अहमहमिका, विद्वत्ता प्रदर्शनेच्छा बहुत, सज्ज्ञानेच्छा नहीं; द्वेष द्रोह बहुत, स्नेह प्रीति नहीं; असार-पलाल बहुत, सार-धान्य नहीं; अविद्या-दुर्विद्या बहुत, सद्विद्या नहीं; शास्त्र का अर्थ, मल्लयुद्ध । प्राचीन महापुरुषों के वाक्यों मे, इसके विरुद्ध, सार, सज्ज्ञान, सद्भाव बहुत, असार और असत् नहीं । क्या किया जाय, मनुष्य की प्रकृति ही मे, अविद्या भी है और विद्या भी; दुःख भोगने पर ही वैराग्य और सद्बुद्धि का उदय होता है ।

सा बुद्धिर्यदि पूर्वं स्यात् कः पतेदेव बन्धने ?

फिर फिर अविद्या का प्राबल्य होता है; वैमनस्य, अशांति, युद्ध, समाज की दुर्व्यवस्था बढ़ती है; सत् पुरुषों, महापुरुषों का कर्तव्य है कि प्राचीनों के सदुपदेशों का, पुनः पुनः जीर्णोद्धार और प्रचार करके, और सब की एकवाक्यता, समरसता, दिखा के, मानवसमाज में सौमनस्य, शांति, तुष्टि, पुष्टि का प्रसार करें, जैसा महावीर और बुद्ध ने किया ।

जैन शास्त्र के प्रसिद्ध दो श्लोक, एक हिन्दी का और एक संस्कृत का, मैंने बहुत वर्ष हुए, श्री शीतलप्रसाद जी ब्रह्मचारी (जैन) से सुने; मुझे बहुत प्रिय लगे।

कला बहत्तर पुरुष की, वा में दो सरदार,
एक जीव की जीविका, एक जीव उद्धार।
आस्रवो बन्धहेतुः स्यात् मोक्षहेतुश्च संवरः,
इतीयम् आर्हती मुष्टिः सर्वमन्यत् प्रपञ्चनम्।

वैशेषिक सूत्र है,

यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः।

तथा वेदान्त का प्रसिद्ध श्लोक है,

बन्धाय विषयाऽऽसक्त, मुक्त्यै निर्विषयं मनः,
एतज् ज्ञान च मोक्षश्च, सर्वोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः।

समय समय के सम्प्रदायाचार्य, यदि ऐसे विरोध-परिहार पर, सम्वाद पर, अधिक ध्यान दें और दिलावें, तो पृथ्वी पर स्वर्ग हो जाय। पर प्रायः स्वयं महा "आलय"—ग्रस्त होने के कारण, यति-भिक्षु-संन्यासी का रूप रखते हुए भी, भेद-बुद्धि, कलह, राग-द्वेष ही मनुष्यों में बढाते हैं। यहाँ तक कि स्वयं महावीर और बुद्ध के जीवनकाल में ही, (यथा ईसा और मुहम्मद के जीवनकाल में ही),

विषय सूची

संकेत-परिचय

पंचप्रतिक्रमण	=	पं० प्र०
दशवैकालिक	=	दश०
उत्तराध्ययन	=	उत्त०
सूत्रकृताङ्ग	=	सूत्र कृ०
आचाराङ्ग	=	आचा०
दशवैकालिक-चूलिका	=	दश० चू०
श्रुतस्कन्ध	=	श्रु०
अध्ययन	=	अ०
उद्देश	=	उ०
गाथा	=	गा०
सूत्र	=	सू०

महावीर-वाणी

: १ :

मंगल सुत्तं

नमोक्कारो

नमो अरिहंताणं ।
नमो सिद्धाणं ।
नमो आयरियाणं ।
नमो उवज्झायाणं ।
नमो लोए सव्वसाहूणं ।

एसो पंच नमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥

—[पंचप्रति० सू० १]

मंगलं

अरिहंता मंगलं ।
सिद्धा मंगलं ।
साहू मंगलं ।
केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलं ।

—[पंचप्रति० संथारा० सू०]

: १ :

मङ्गल-सूत्र

नमस्कार

अर्हन्तों को नमस्कार;

सिद्धों को नमस्कार;

आचार्यों को नमस्कार;

उपाध्यायों को नमस्कार;

लोक (संसार) में सब साधुओं को नमस्कार।

यह पञ्च नमस्कार समस्त पापों का नाश करनेवाला है, और सब मङ्गलों में प्रथम (मुख्य) मङ्गल है।

मङ्गल

अर्हन्त मङ्गल हैं;

सिद्ध मङ्गल हैं;

साधु मङ्गल हैं;

केवली-प्ररूपित अर्थात् सर्वज्ञ-कथित धर्म मङ्गल है।

लोगुत्तमा

अरिहंता लोगुत्तमा ।
सिद्धा लोगुत्तमा ।
साहू लोगुत्तमा ।
केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो ।

—[पंचप्रति० संथारा० सू०]

सरणं

अरिहंते सरणं पवज्जामि ।
सिद्धे सरणं पवज्जामि ।
साहू सरणं पवज्जामि ।
केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ।

—[पंचप्रति० संथारा० सू०]

लोकोत्तम

अर्हन्त लोकोत्तम (संसार में श्रेष्ठ) हैं;

सिद्ध लोकोत्तम हैं;

साधु लोकोत्तम हैं;

केवली-प्ररूपित धर्म लोकोत्तम है।

शरण

अर्हन्तों की शरण स्वीकार करता हूँ,

सिद्धों की शरण स्वीकार करता हूँ;

साधुओं की शरण स्वीकार करता हूँ;

केवली-प्ररूपित धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ।

धम्म-सुत्तं

(१)

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसन्ति जस्स धम्मे सया मणो ॥१॥

–[दश० अ० १ गा० १]

(२)

अहिंस सच्चं च अतेणगं च,
तत्तो य बम्भं अपरिग्गहं च ।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि,
चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विदू ॥२॥

–[उत्तरा० अ० २१ गा० १२]

(३)

पाणे य नाइवाएज्जा, अदिन्नं पि य नायए ।
साइयं न मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ ॥३॥

–[सू० श्रु० १ अ० ८ गा० १९]

(४)

जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिण ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥४॥

–[उत्तरा० अ० २३ गा० ६८]

: २ :

धर्म-सूत्र

(१)

धर्म सर्वश्रेष्ठ मङ्गल है।

(कौन-सा धर्म ?) अहिंसा, संयम और तप।

जिस मनुष्य का मन उक्त धर्म में सदा संलग्न रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

(२)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों को स्वीकार करके बुद्धिमान मनुष्य जिन-द्वारा उपदेश किये धर्म का आचरण करे।

(३)

छोटे-बड़े किसी भी प्राणी की हिंसा न करे; अदत्त (बिना दी हुई वस्तु) न ले, विश्वासघाती असत्य न बोले यह आत्म-निग्रही सत्पुरुषों का धर्म है।

(४)

जरा और मरण के वेगवाले प्रवाह में बहते हुए जीवों के लिए धर्म ही एक-मात्र द्वीप है, प्रतिष्ठा है, गति है, और उत्तम शरण है।

(५)

अद्धाण जो महन्त तु, अप्पाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो दुही होइ, छुहा-तण्हाए पीडिओ ॥५॥

—[उत्तरा० अ० १९ गा० १८]

(६)

एवं धम्मं अकाऊण, जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छन्तो सो दुही होइ, वाहीरोगेहिं पीडिओ ॥६॥

—[उत्तरा० अ० १९ गा० १९]

(७)

अद्धाणं जो महन्त तु, सपाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो सुही होइ, छुहा-तण्हा-विवज्जिओ ॥७॥

—[उत्तरा० अ० १९ गा० २०]

(८)

एवं धम्मं पि काऊण, जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छन्तो सो सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे ॥८॥

—[उत्तरा० अ० १९ गा० २१]

(९)

जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं ।
विसमं मग्गमोइण्णो, अक्खे भग्गम्मि सोयई ॥९॥

—[उत्तरा० अ० ५ गा० १४]

(५)

जो पथिक बिना पाथेय लिये बड़े लम्बे मार्ग की यात्रा पर जाता है, वह आगे जाता हुआ भूख और प्यास से पीड़ित होकर अत्यन्त दुखी होता है।

(६)

और जो मनुष्य बिना धर्माचरण किये पर-लोक जाता है, वह वहाँ विविध प्रकार की आधि-व्याधियों से पीड़ित होकर अत्यन्त दुखी होता है।

(७)

जो पथिक बड़े लम्बे मार्ग की यात्रा पर अपने साथ पाथेय लेकर जाता है, वह आगे जाता हुआ भूख और प्यास से तनिक भी पीड़ित न होकर अत्यन्त सुखी होता है।

(८)

और जो मनुष्य यहाँ भली-भाँति धर्म का आराधन करके परलोक जाता है, वह वहाँ अल्प-कर्मी तथा पीड़ा-रहित होकर अत्यन्त सुखी होता है।

(९)

जिस प्रकार मूर्ख गाड़ीवान जान-बूझकर भी साफ़-सुथरे राज-मार्ग को छोड़कर विषम (ऊँचे-नीचे, ऊबड़-खाबड़) मार्ग पर जाता है और गाड़ी की धुरी टूट जाने पर शोक करता है

(१०)

एवं धम्मं विउक्कम्म, अहम्मं पडिवज्जिया।
बाले मच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गेव सोयई ॥१०॥

—[उत्तरा० अ० ५ गा० १५]

(११)

जहा य तिन्नि वाणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया।
एगोऽत्थ लहइ लाभं एगो मूलेण आगओ ॥११॥

—[उत्तरा० अ० ७ गा० १४]

(१२)

एगो मूलं पि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ।
ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे वियाणह ॥१२॥

—[उत्तरा० अ० ७ गा० १५]

(१३)

माणुसत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेएण जीवाणं, नरग-तिरिक्खत्तणं धुवं ॥१३॥

—[उत्तरा० अ० ७ गा० १६]

(१४)

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ ॥१४॥

—[उत्तरा० अ० १४ गा० २४]

(१०)

उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य भी धर्म को छोड़कर, अधर्म को ग्रहण कर, अन्त में मृत्यु के मुँह में पड़कर जीवन की धुरी टूट जाने पर शोक करता है ।

(११)

तीन बनिये कुछ पूँजी लेकर धन कमाने घर से निकले । उनमें से एक को लाभ हुआ; दूसरा अपनी मूल पूँजी ही ज्यों-की-त्यों बचा लाया

(१२)

तीसरा अपनी गाँठ की पूँजी भी गवाँकर लौट आया । यह एक व्यावहारिक उपमा है, यही बात धर्म के सम्बन्ध में भी विचार लेनी चाहिये

(१३)

मनुष्यत्व मूल है अर्थात् मनुष्य से मनुष्य बननेवाला, मूल पूँजी को बचानेवाला है । देव-जन्म पाना, लाभ उठाना है । और जो मनुष्य नरक तथा तिर्यक् गति को प्राप्त होता है, वह अपनी मूल पूँजी को भी गवाँ देनेवाला मूर्ख है ।

(१४)

जो रात और दिन एक बार अतीत की ओर चले जाते हैं, वे फिर कभी वापस नहीं आते; जो मनुष्य अधर्म (पाप) करता है, उसके वे रात-दिन बिल्कुल निष्फल जाते हैं ।

(१५)

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई ।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ ॥१५॥

—[उत्तरा० अ० १४ गा० २५]

(१६)

जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥१६॥

—[दश० अ० ८ गा० ३६]

(१७)

मरिहिसि रायं ! जया तया वा,
मणोरमे कामगुणे विहाय ।
एक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं,
न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ॥१७॥

—[उत्तरा० अ० १४ गा० ४०]

(१५)

जो रात और दिन एक बार अतीत की ओर चले जाते हैं, वे फिर कभी वापस नहीं आते, जो मनुष्य धर्म करता है, उसके वे रात और दिन सफल हो जाते हैं।

(१६)

जबतक बुढापा नहीं सताता, जबतक व्याधियाँ नहीं बढ़तीं, जबतक इन्द्रियाँ हीन (अशक्त) नहीं होतीं, तबतक धर्म का आचरण कर लेना चाहिये बाद में कुछ नहीं होने का।

(१७)

हे राजन्! जब कभी इन मनोहर काम-भोगों को छोड़कर आप पर-लोक के यात्री बनेंगे, तब एक-मात्र धर्म ही आपकी रक्षा करेगा। हे नरदेव! धर्म को छोड़कर जगत् में दूसरा कोई भी रक्षा करनेवाला नहीं।

: ३ :

અહિંસા-સુત્તં

(૧૮)

તત્થિમં પઢમં ઠાણં, મહાવીરેણ દેસિયં ।
અહિંસા નિઉણા દિટ્ઠા, સવ્વભૂએસુ સંજમો ॥૧॥

—[દશ૦ અ૦ ૬ ગા૦ ૯]

(૧૯)

જાવન્તિ લોએ પાણા, તસા અદુવા થાવરા ।
તે જાણમજાણં વા, ન હણે નો વિ ઘાયએ ॥૨॥

—[દશ૦ અ૦ ૬ ગા૦ ૧૦]

(૨૦)

સયં તિવાયએ પાણે, અદુવઽન્નેહિં ઘાયએ ।
હણન્તં વાઽણુજાણાઇ, વેરં વડ્ઢઇ અપ્પણો ॥૩॥

—[સૂત્ર૦ શ્રુ૦ ૧ અ૦ ૧ ઉ૦ ૧ ગા૦ ૩]

(૨૧)

જગનિસ્સિએહિં ભૂએહિં, તસનામેહિં થાવરેહિં ચ ।
નો તેસિમારભે દંડં, મણસા વયસા કાયસા ચેવ ॥૪॥

—[ઉત્તરા૦ અ૦ ૮ ગા૦ ૧૦]

: ३ :

अहिंसा-सूत्र

(१८)

भगवान महावीर ने अठारह धर्म-स्थानों में सबसे पहला स्थान अहिंसा का बतलाया है।

सब जीवों के साथ संयम से व्यवहार रखना अहिंसा है; वह सब सुखों की देनेवाली मानी गई है।

(१९)

संसार में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उन सब को क्या जान में, क्या अनजान में न खुद मारे और न दूसरों से मरवाये।

(२०)

जो मनुष्य प्राणियों की स्वयं हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है और हिंसा करनेवालों का अनुमोदन करता है, वह संसार में अपने लिए वैर को ही बढ़ाता है।

(२१)

संसार में रहनेवाले त्रस और स्थावर जीवों पर मन से, वचन से और शरीर से, किसी भी तरह दण्ड का प्रयोग न करे।

(२२)

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥५॥

—[दश० अ० ६ गा० ११]

(२३)

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स, पाणे पियायए ।
न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए ॥६॥

—[उत्तरा० अ० ६ गा० ७]

(२४)

पुढवी-जीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहाऽगणी ।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तण-रुक्खा सबीयगा ॥७॥

—[सूत्र० श्रु० १ अ० ११ गा० ७]

(२५)

अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया ।
एयावए जीवकाए, नावरे कोइ विज्जई ॥८॥

—[सूत्र० श्रु० १ अ० ११ गा० ८]

(२६)

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मइमं पडिलेहिया ।
सव्वे अक्कन्तदुक्खा य, अओ सव्वे न हिंसया ॥९॥

—[सूत्र० श्रु० १ अ० ११ गा० ९]

(२२)

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता। इसीलिए निर्ग्रन्थ (जैन मुनि) घोर प्राणि-वध का सर्वथा परित्याग करते है।

(२३)

भय और वैर से निवृत्त साधक, जीवन के प्रति मोह-ममता रखनेवाले सब प्राणियों को सर्वत्र अपनी ही आत्मा के समान जानकर उनकी कभी भी हिंसा न करे।

(२४)

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और बीज सहित तृण, वृक्ष आदि वनस्पतिकाय ये सब जीव अति-सूक्ष्म हैं, ऊपर से एक आकार के दीखने पर भी सब का पृथक्-पृथक् अस्तित्व है।

(२५)

उक्त पाँच स्थावरकाय के अतिरिक्त दूसरे त्रस प्राणी भी हैं। ये छहों षड्जीवानिकाय कहलाते हैं। संसार में जितने भी जीव हैं, सब इन्हीं छह के अन्तर्गत हैं। इन के सिवाय और कोई जीव-निकाय नहीं है।

(२६)

बुद्धिमान् मनुष्य उक्त छहों जीव-निकायों का सब प्रकार की युक्तियों से सम्यक्ज्ञान प्राप्त करे और 'सभी जीव दुःख से घबराते हैं' ऐसा जानकर उन्हें दुःख न पहुँचाये।

(२७)

एवं खु नाणिणो सार, जं न हिंसइ किंचण ।
अहिंसा समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया ॥१०॥

—[सूत्र० श्रु० १ अ० ११ गा० १०]

(२८)

संबुज्झमाणे उ नरे मईमं,
पावाउ अप्पाणं निवट्टएज्जा ।
हिंसप्पसूयाइं दुहाइं मत्ता,
वेरानुबन्धीणि महब्भयाणि ॥११॥

—[सूत्र० श्रु० १ अ० १० गा० २१]

(२९)

समया सव्वभूएसु, सत्तु-मित्तेसु वा जगे ।
पाणाइवायविरई, जावज्जीवाए दुक्करं ॥१२॥

—[उत्तरा० अ० १९ गा० २५]

(२७)

ज्ञानी होने का सार ही यह है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। मात्र इतना ही अहिंसा के सिद्धान्त का ज्ञान यथेष्ट है। और यही अहिंसा का विज्ञान है।

(२८)

सम्यक् बोध को जिसने प्राप्त कर लिया वह बुद्धिमान् मनुष्य हिंसा से उत्पन्न होनेवाले वैर-वर्द्धक एवं महा भयंकर दुःखों को जानकर अपने को पाप-कर्म से बचाये।

(२९)

संसार में प्रत्येक प्राणी के प्रति फिर भले ही वह शत्रु हो या मित्र समभाव रखना, तथा जीवन-पर्यन्त छोटी-मोटी सभी प्रकार की हिंसा का त्याग करना वास्तव में बड़ा ही दुष्कर है।

: ४ :

सच्च-सुत्तं

(३०)

निच्चकालऽप्पमत्तेणं, मुसावायविवज्जणं ।
भासियव्वं हियं सच्चं, निच्चाऽऽउत्तेण दुक्करं ॥१॥

–[उत्तरा० अ० १९ गा० २६]

(३१)

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया ।
हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए ॥२॥

–[दश० अ० ६ गा० १२]

(३२)

मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरहिओ ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए ॥३॥

–[दश० अ० ६ गा० १३]

(३३)

न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं ।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तरेण वा ॥४॥

–[उत्तरा० अ० १ गा० २५]

: ४ :

सत्य-सूत्र

(३०)

सदा अ-प्रमादी और सावधान रहकर, असत्य को त्याग कर, हितकारी सत्य वचन ही बोलना चाहिए। इस तरह सत्य बोलना बड़ा कठिन होता है।

(३१)

अपने स्वार्थ के लिए अथवा दूसरों के लिए, क्रोध से अथवा भय से किसी भी प्रसंग पर दूसरों को पीड़ा पहुँचानेवाला असत्य वचन न तो स्वयं बोले, न दूसरों से बुलवाये।

(३२)

मृषावाद (असत्य) संसार में सभी सत्पुरुषों द्वारा निन्दित ठहराया गया है और सभी प्राणियों को अ-विश्वसनीय है; इसलिए मृषावाद सर्वथा छोड़ देना चाहिए।

(३३)

अपने स्वार्थ के लिए, अथवा दूसरों के लिए, दोनों में से किसी के भी लिए, पूछने पर पाप-युक्त, निरर्थक एवं मर्म-भेदक वचन नहीं बोलना चाहिए।

(३४)

तहेव सावज्जऽणुमोयणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवघायणी ।
से कोह लोह भय हास माणवो,
न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ॥५॥

–[दश० अ० ९ गा० ५४]

(३५)

दिट्ठं मियं असंदिद्धं, पडिपुण्णं वियंजियं ।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं ॥६॥

–[दश० अ० ८ गा० ४९]

(३६)

भासाए दोसे य गुणे य जाणिया,
तीसे य दुट्ठे परिवज्जए सया ।
छसु संजए सामणिए सया जए,
वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं ॥७॥

–[दश० अ० ७ गा० ५६]

(३७)

सयं समेच्च अदुवा वि सोच्चा,
भासेज्ज धम्मं हिययं पयाणं ।
जे गरहिया सणियाणप्पओगा,
न ताणि सेवन्ति सुधीरधम्मा ॥८॥

–[सूत्र० श्रु० १ अ० १३ गा० १९]

(२४)

श्रेष्ठ साधु पापकारी, निश्चयकारी और दूसरों को दुःख पहुँचानेवाली वाणी न बोले।

श्रेष्ठ मानव इसी तरह क्रोध, लोभ, भय और हास्य से भी पापकारी वाणी न बोले। हँसते हुए भी पाप-वचन नहीं बोलना चाहिए।

(२५)

आत्मार्थी साधक को दृष्ट (सत्य), परिमित, असंदिग्ध, परिपूर्ण, स्पष्ट-अनुभूत, वाचालता-रहित, और किसी को भी उद्विग्न न करनेवाली वाणी बोलनी चाहिए।

(२६)

भाषा के गुण तथा दोषों को भली-भाँति जानकर दूषित भाषा को सदा के लिए छोड़ देनेवाला, षट्काय जीवों पर संयत रहनेवाला, तथा साधुत्व-पालन में सदा तत्पर बुद्धिमान साधक एकमात्र हितकारी मधुर भाषा बोले।

(२७)

श्रेष्ठ धीर पुरुष स्वयं जानकर अथवा गुरुजनों से सुनकर प्रजा का हित करनेवाले धर्म का उपदेश करे। जो आचरण निन्द्य हों, निदानवाले हों, उनका कभी सेवन न करे।

(३८)

सवक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी,
गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया ।
मियं अदुट्ठ अणुवीइ भासए,
सयाण मज्झे लहई पसंसणं ॥९॥

—[दश० अ० ७ गा० ५५]

(३९)

तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे-त्ति वा ।
वाहियं वा वि रोगि त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए ॥१०॥

—[दश० अ० ७ गा० १२]

(४०)

वितहं वि तहामुत्तिं, जं गिरं भासए नरो ।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं, किं पुण जो मुसं वए? ॥११॥

—[दश० अ० ७ गा० ५]

(४१)

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी ।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥१२॥

—[दश० अ० ७ गा० ११]

(३८)

विचारवान मुनि को वचन-शुद्धि का भली-भाँति ज्ञान प्राप्त करके दूषित वाणी सदा के लिए छोड़ देनी चाहिए और खूब सोच-विचार कर बहुत परिमित और निर्दोष वचन बोलना चाहिए। इस तरह बोलने से सत्पुरुषों में महान् प्रशंसा प्राप्त होती है।

(३९)

काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कहना यद्यपि सत्य है, तथापि ऐसा नहीं कहना चाहिए। (क्योंकि इससे उन व्यक्तियों को दुःख पहुँचता है।)

(४०)

जो मनुष्य भूल से भी मूलतः असत्य, किन्तु ऊपर से सत्य मालूम होनेवाली भाषा बोल उठता है, और वह भी पाप से अछूता नहीं रहता, तब भला जो जान-बूझकर असत्य बोलता है, उसके पाप का तो कहना ही क्या !

(४१)

जो भाषा कठोर हो, दूसरों को भारी दुःख पहुँचानेवाली हो वह सत्य ही क्यों न हो नहीं बोलनी चाहिए। क्योंकि उससे पाप का आस्रव होता है।

: ५ :

अतेणग सुत्त

(४२)

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं ।
दंतसोहणमित्तं पि, उग्गहं से अजाइया ॥१॥

—[दश० अ० ६ गा० १४]

(४३)

तं अप्पणा न गिण्हंति, नो वि गिण्हावए परं ।
अन्नं वा गिण्हमाणं पि, नाणुजाणंति संजया ॥२॥

—[दश० अ० ६ गा० १५]

(४४)

उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु,
तसा य जे थावर जे य पाणा ।
हत्थेहिं पाएहिं य संजमित्ता,
अदिन्नमन्नेसु य नो गहेज्जा ॥३॥

—[सूत्र० श्रु० १ अ० १० गा० २]

(४५)

तिव्व तसे पाणिणो थावरे य,
जे हिंसति आयसुहं पडुच्च ।
जे लूसए होइ अदत्तहारी,
ण सिक्खई सेयवियस्स किंचि ॥४॥

—[सूत्र० श्रु० १ अ० ५ उ० १ गा० ४]

: ५ :

अस्तेनक-सूत्र

(४२-४३)

सचेतन पदार्थ हो या अचेतन, अल्प पदार्थ हो या बहुत, और तो क्या, दाँत कुरेदने की सींक भी जिस गृहस्थ के अधिकार में हो उसकी आज्ञा लिये बिना पूर्ण-संयमी साधक न तो स्वयं ग्रहण करते हैं, न दूसरों को ग्रहण करने के लिए प्रेरित करते हैं, और न ग्रहण करनेवालों का अनुमोदन ही करते हैं।

(४४)

ऊँची, नीची, और तिरछी दिशा मे जहाँ कहीं भी जो त्रस और स्थावर प्राणी हों उन्हें संयम से रह कर अपने हाथों से, पैरों से,--किसी भी अंग से पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिए। और दूसरों की बिना दी हुई वस्तु भी चोरी से ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

(४५)

जो मनुष्य अपने सुख के लिये त्रस तथा स्थावर प्राणियों की क्रूरता-पूर्वक हिंसा करता है--उन्हें अनेक तरह से कष्ट पहुँचाता है, जो दूसरों की चोरी करता है, जो आदरणीय व्रतों का कुछ भी पालन नहीं करता, (वह भयङ्कर क्लेश उठाता है)।

(४६)

दन्तसोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं ।
अणवज्जेसणिज्जस्स, गिण्हणा अवि दुक्करं ॥४६॥

—[उत्तरा० अ० १९ गा० २७]

(४६)

दाँत कुरेदने की सींक आदि तुच्छ वस्तुएँ भी बिना दिये चोरी से न लेना, (बड़ी चीजों को चोरी से लेने की तो बात ही क्या !) निर्दोष एवं एषणीय भोजन-पान भी दाता के यहाँ से दिया हुआ लेना, यह बड़ी दुष्कर बात है।

: ६ :

बंभचरिय-सुत्तं

(४७)

विरई अबंभचेरस्स, कामभोगरसन्नुणा ।
उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं ॥१॥

-[उत्तरा० अ० १९ गा० २८]

(४८)

अबंभचरियं घोरं, पमायं दुरहिट्ठियं ।
नाऽऽयरन्ति मुणी लोए, भेयाययणवज्जिणो ॥२॥

-[दश० अ० ६ गा० १६]

(४९)

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयन्ति णं ॥३॥

-[दश० अ० ६ गा० ११]

(५०)

विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीयं रसभोयणं ।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥४॥

-[दश० अ० ८ गा० ५७]

: ६ :

ब्रह्मचर्य-सूत्र

(४७)

काम-भोगों का रस जान लेनेवाले के लिए अ-ब्रह्मचर्य से विरक्त होना और उग्र ब्रह्मचर्य महाव्रत का धारण करना, बड़ा ही कठिन कार्य है।

(४८)

जो मुनि संयम-घातक दोषों से दूर रहते हैं, वे लोक में रहते हुए भी दुःसेव्य, प्रमाद-स्वरूप और भयङ्कर अ-ब्रह्मचर्य का कभी सेवन नहीं करते।

(४९)

यह अ-ब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है, महा-दोषों का स्थान है, इसलिए निर्ग्रन्थ मुनि मैथुन-संसर्ग का सर्वथा परित्याग करते हैं।

(५०)

आत्म-शोधक मनुष्य के लिए शरीर का शृंगार, स्त्रियों का संसर्ग और पौष्टिक-स्वादिष्ट भोजन - सब तालपुट विष के समान महान् भयङ्कर हैं।

(५१)

न रूवलावण्णविलासहासं,
न जंपियं इंगिय-पेहियं वा।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता,
दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥५॥
—[उत्तरा० अ० ३२ गा० १४]

(५२)

अदंसणं चेव अपत्थणं च,
अचिंतणं चेव अकित्तणं च।
इत्थीजणस्साऽऽरियज्झाणजुग्गं,
हियं सया बंभवए रयाणं ॥६॥
—[उत्तरा० अ० ३२ गा० १५]

(५३)

मणपल्हायजणणी, कामरागविवड्ढणी।
बंभचेरओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए ॥७॥
—[उत्तरा० अ० १६ गा० २]

(५४)

समं च संथवं थीहिं, संकहं च अभिक्खणं।
बंभचेरओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥८॥
—[उत्तरा० अ० १६ गा० ३]

(५१)

श्रमण तपस्वी स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मधुर-वचन, सङ्केत-चेष्टा हाव-भाव और कटाक्ष आदि का मन में तनिक भी विचार न लाये, और न इन्हें देखने का कभी प्रयत्न करे।

(५२)

स्त्रियों को राग-पूर्वक देखना, उनकी अभिलाषा करना, उनका चिन्तन करना, उनका कीर्तन करना, आदि कार्य ब्रह्मचारी पुरुष को कदापि नहीं करने चाहिए। ब्रह्मचर्य व्रत में सदा रत रहने की इच्छा रखनेवाले पुरुषों के लिए यह नियम अत्यन्त हितकर है, और उत्तम ध्यान प्राप्त करने में सहायक है।

(५३)

ब्रह्मचर्य में अनुरक्त भिक्षु को मन में वैषयिक आनन्द पैदा करनेवाली तथा काम-भोग की आसक्ति बढ़ानेवाली स्त्री-कथा को छोड़ देना चाहिए।

(५४)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को स्त्रियों के साथ बात-चीत करना और उनसे बार-बार परिचय प्राप्त करना सदा के लिए छोड़ देना चाहिए।

(५५)

अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लवियपेहियं ।
बंभचेररओ थीणं, चक्खुगिज्झं विवज्जए ॥९॥
-[उत्तरा० अ० १६ गा० ४]

(५६)

कूइयं रुइयं गीयं, हसियं थणियकन्दियं ।
बंभचेररओ थीणं, सोयगिज्झं विवज्जए ॥१०॥
-[उत्तरा० अ० १६ गा० ५]

(५७)

हासं किड्डं रइं दप्पं, सहस्साऽवत्तासियाणि य ।
बंभचेररओ थीणं, नाणुचिन्ते कयाइ वि ॥११॥
-[उत्तरा० अ० १६ गा० ६]

(५८)

पणियं भत्तपाणं तु खिप्पं मयविवड्ढणं ।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥१२॥
-[उत्तरा० अ० १६ गा० ७]

(५९)

धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पणिहाणवं ।
नाइमत्तं तु भुंजेज्जा, बंभचेररओ सया ॥१३॥
-[उत्तरा० अ० १६ गा० ८]

(५५)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को न तो स्त्रियों के अङ्ग-प्रत्यङ्गों की सुन्दर आकृति की ओर ध्यान देना चाहिए, और न आँखों में विकार पैदा करनेवाले हाव-भावों और स्नेह-भरे मीठे वचनों की ही ओर।

(५६)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को स्त्रियों का कूजन (अव्यक्त आवाज़) रोदन, गीत, हास्य, सीत्कार और करुण-क्रन्दन जिनके सुनने पर विकार पैदा होते हैं सुनना छोड़ देना चाहिए।

(५७)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु स्त्रियों के पूर्वानुभूत हास्य, क्रीड़ा, रति, दर्प, सहसा-वित्रासन आदि कार्यों को कभी भी स्मरण न करे।

(५८)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को शीघ्र ही वासना-वर्धक पुष्टि-कारक भोजन-पान का सदा के लिए परित्याग कर देना चाहिए।

(५९)

ब्रह्मचर्य-रत स्थिर-चित्त भिक्षु को संयम-यात्रा के निर्वाह के लिए हमेशा धर्मानुकूल विधि से प्राप्त परिमित भोजन ही करना चाहिए। कैसी ही भूख क्यों न लगी हो, लालसा-वश अधिक मात्रा में कभी भी भोजन नहीं करना चाहिए।

(६०)

जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे,
समारुओ नोवसमं उवेइ ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो,
न बंभयारिस्स हियाय कस्सई ॥१४॥
—[उत्तरा० अ० ३२ गा० ११]

(६१)

विभूसं परिवज्जेज्जा, सरीरपरिमंडणं ।
बम्भचेररओ भिक्खू, सिंगारत्थं न धारए ॥१५॥
—[उत्तरा० अ० १६ गा० ९]

(६२)

सद्दे रूवे य गन्धे य, रसे फासे तहेव य ।
पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए ॥१६॥
—[उत्तरा० अ० १६ गा० १०]

(६३)

दुज्जए कामभोगे य, निच्चसो परिवज्जए ।
संकट्ठाणाणि सव्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणवं ॥१७॥
—[उत्तरा० अ० १६ गा० १४]

(६४)

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
जं काइयं माणसियं च किंचि,
तस्सऽन्तगं गच्छई वीयरागो ॥१८॥
—[उत्तरा० अ० ३२ गा० १९]

(६०)

जैसे बहुत ज्यादा ईंधनवाले जङ्गल में पवन से उत्तेजित दावाग्नि शान्त नहीं होती, उसी तरह मर्यादा से अधिक भोजन करनेवाले ब्रह्मचारी की इंद्रियाग्नि भी शान्त नहीं होती। अधिक भोजन किसी को भी हितकर नहीं होता।

(६१)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को शृंगार के लिए, शरीर की शोभा और सजावट का कोई भी शृङ्गारी काम नहीं करना चाहिए।

(६२)

ब्रह्मचारी भिक्षु को शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पाँच प्रकार के काम-गुणों को सदा के लिए छोड़ देना चाहिए।

(६३)

स्थिर-चित्त भिक्षु, दुर्जय काम-भोगों को हमेशा के लिए छोड़ दे। इतना ही नहीं, जिनसे ब्रह्मचर्य में तनिक भी क्षति पहुँचनेकी सम्भावना हो, उन सब शङ्का-स्थानों का भी उसे परित्याग कर देना चाहिए।

(६४)

देवताओं-सहित समस्त संसार के दुःख का मूल एक-मात्र काम-भोगों की वासना ही है। जो साधक इस सम्बन्ध में वीतराग हो जाता है, वह शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दुःखों से छूट जाता है।

(६५)

देवदाणवगन्धव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा ।
बंभयारिं नमंसन्ति, दुक्करं जे करेन्ति ते ॥१९॥

—[उत्तरा० अ० १६ गा० १६]

(६६)

एस धम्मे धुवे निच्चे, सासए जिणदेसिए ।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेणं, सिज्झिस्सन्ति तहा परे ॥२०॥

—[उत्तरा० अ० १६ गा० १४]

(६५)

जो मनुष्य इस प्रकार दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसे देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सभी नमस्कार करते हैं।

(६६)

यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिनोपदिष्ट है। इसके द्वारा पूर्वकाल में कितने ही जीव सिद्ध हो गये हैं, वर्तमान में हो रहे हैं, और भविष्य में होंगे।

: ७ :

अप्परिग्गह-सुत्तं

(६७)

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥१॥

—[दश० अ० ६ गा० २१]

(६८)

धण-धन्न-पेसवग्गेसु, परिग्गहविवज्जणं ।
सव्वारंभ-परिच्चाओ, निम्ममत्तं सुदुक्करं ॥२॥

—[उत्तरा० अ० १९ गा० २९]

(६९)

बिड़मुब्भेइमं लोणं, तेल्लं सप्पिं च फाणियं ।
न ते सन्निहिमिच्छन्ति, नायपुत्त-वओरया ॥३॥

—[दश० अ० ६ गा० १८]

(७०)

जं पि वत्थं च पायं वा, कंबलं पायपुंछणं ।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारेन्ति परिहरन्ति य ॥४॥

—[दश० अ० ६ गा० २०]

: ७ :

अपरिग्रह-सूत्र

(६७)

प्राणि-मात्र के संरक्षक ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) ने कुछ वस्त्र आदि स्थूल पदार्थों को परिग्रह नहीं बतलाया है। वास्तविक परिग्रह तो उन्होंने किसी भी पदार्थ पर मूर्च्छा का आसक्ति का रखना बतलाया है।

(६८)

पूर्ण-संयमी को धन-धान्य और नौकर-चाकर आदि सभी प्रकार के परिग्रहों का त्याग करना होता है। समस्त पाप-कर्मों का परित्याग करके सर्वथा निर्ममत्व होना तो और भी कठिन बात है।

(६९)

जो संयमी ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) के प्रवचनों में रत हैं, वे बिड़ और उद्भेद्य आदि नमक तथा तेल, घी, गुड़ आदि किसी भी वस्तु के संग्रह करने का मन में संकल्प तक नहीं करते।

(७०)

परिग्रह-विरक्त मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजो-हरण आदि वस्तुएँ रखते हैं, वे सब एक-मात्र संयम की रक्षा के लिए ही रखते हैं काम में लाते हैं। (इनके रखने में किसी प्रकार की आसक्ति का भाव नहीं है।)

(७१)

सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, संरक्खण-परिग्गहे ।
अवि अप्पणो वि देहम्मि, नाऽऽयरन्ति ममाइयं ॥५॥

—[दश० अ० ६ गा० २२]

(७२)

लोहस्सेस अणुप्फासो, मन्ने अन्नयरामवि ।
जे सिया सन्निहीकामे गिही, पव्वइए न से ॥६॥

—[दश० अ० ६ गा० १९]

(७१)

ज्ञानी पुरुष, संयम-साधक उपकरणों के लेने और रखने में कहीं भी किसी भी प्रकार का ममत्व नहीं करते। और तो क्या, अपने शरीर तक पर भी ममता नहीं रखते।

(७२)

संग्रह करना, यह अन्दर रहनेवाले लोभ की झलक है। अतएव मैं मानता हूँ कि जो साधु मर्यादा-विरुद्ध कुछ भी संग्रह करना चाहता है, वह गृहस्थ है साधु नहीं है।

अराइभोयण-सुत्तं

(७३)

अत्थंगयम्मि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए ।
आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए ॥१॥

—[दश० अ० ८ गा० २८]

(७४)

सन्तिमे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावरा ।
जाइं राओ अपासतो, कहमेसणिय चरे ? ॥२॥

—[दश० अ० ६ गा० २४]

(७५)

उदउल्लं बीयसंसत्तं, पाणा निव्वडिया महिं ।
दिया ताइं विवज्जेज्जा, राओ तत्थ कहं चरे ? ॥३॥

—[दश० अ० ६ गा० २५]

(७६)

एयं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासियं ।
सव्वाहारं न भुंजंति, निग्गंथा राइभोयणं ॥४॥

—[दश० अ० ६ गा० २६]

: ८ :

अरात्रि-भोजन-सूत्र

(७३)

सूर्य के उदय होने से पहले और सूर्य के अस्त हो जाने के बाद निर्ग्रन्थ मुनि को सभी प्रकार के भोजन-पान आदि की मन से भी इच्छा नहीं करनी चाहिए।

(७४)

संसार में बहुत से त्रस और स्थावर प्राणी बड़े ही सूक्ष्म होते हैं वे रात्रि में देखे नहीं जा सकते। तब रात्रि में भोजन कैसे किया जा सकता है?

(७५)

ज़मीन पर कहीं पानी पड़ा होता है, कहीं बीज बिखरे होते हैं, और कहीं पर सूक्ष्म कीड़े-मकोड़े आदि जीव होते हैं। दिन में तो उन्हें देख-भालकर बचाया जा सकता है, परन्तु रात्रि में उनको बचा कर भोजन कैसे किया जा सकता है?

(७६)

इस तरह सब दोषों को देखकर ही ज्ञातपुत्र ने कहा है कि निर्ग्रन्थ मुनि, रात्रि में किसी भी प्रकार का भोजन न करें।

(७७)

चउव्विहे वि आहारे, राईभोयण वज्जणा ।
सन्निही-संचओ चेव, वज्जेयव्वो सुदुक्करं ॥५॥

—[उत्तरा० अ० १९ गा० ३०]

(७८)

पाणिवह-मुसावाया-ऽदत्त-मेहुण-परिग्गहा-विरओ ।
राइभोयणविरओ, जीवो भवइ अणासवो ॥६॥

—[उत्तरा० अ० ३० गा० २]

(७७)

अन्न आदि चारों ही प्रकार के आहार का रात्रि में सेवन नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं, दूसरे दिन के लिए भी रात्रि में खाद्य सामग्री का सङ्ग्रह करना निषिद्ध है। अतः अरात्रि-भोजन वास्तव में बड़ा दुष्कर है।

(७८)

हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह और रात्रि भोजन जो जीव इनसे विरत (पृथक्) रहता है, वह 'अनास्रव' (आत्मा में पाप-कर्म के प्रविष्ट होने के द्वार आस्रव कहलाते हैं, उनसे रहित= अनास्रव) हो जाता है।

: ९ :

विणय-सुत्तं

(७९)

मूलाओ खंधप्पभवो दुमस्स,
खंधाउ पच्छा समुवेन्ति साहा ।
साहा-प्पसाहा विरुहन्ति पत्ता,
तओ य से पुप्फं फलं रसो य ॥१॥

–[दश० अ० ९ उ० २ गा० १]

(८०)

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो ।
जेण कित्तिं सुयं सिग्घं, निस्सेसं चाभिगच्छइ ॥२॥

–[दश० अ० ९ उ० २ गा० २]

(८१)

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भइ ।
थम्भा कोहा पमाएणं, रोगेणाऽऽलस्सएण य ॥३॥

–[उत्तरा० अ० ११ गा० ३]

: ९ :

विनय-

(७९)

वृक्ष के मूल से सबसे पहले स्कन्ध पैदा होता है, स्कन्ध के बाद शाखाएँ और शाखाओं से दूसरी छोटी छोटी शाखाएँ निकलती हैं। छोटी शाखाओं से पत्ते पैदा होते हैं। इसके बाद क्रमशः फूल, फल और रस उत्पन्न होते हैं।

(८०)

इसी भाँति धर्म का मूल विनय है और मोक्ष उसका अन्तिम रस है। विनय से ही मनुष्य बहुत जल्दी शास्त्र-ज्ञान तथा कीर्ति सम्पादन करता है। अन्त में, निश्रेयस (मोक्ष) भी इसीसे प्राप्त होता है।

(८१)

इन पाँच कारणों से मनुष्य सच्ची शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता :

अभिमान से, क्रोध से, प्रमाद से, कुष्ठ आदि रोग से, और आलस्य से।

(८२-८३)

अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीलि त्ति वुच्चइ ।
अहस्सिरे सयादन्ते, न य मम्ममुदाहरे ॥४॥
नासीले न विसीले, न सिया अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीलि त्ति वुच्चइ ॥५॥

—[उत्तरा० अ० ११ गा० ४—५]

(८४)

आणानिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए ।
इंगियागारसंपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चइ ॥६॥

—[उत्तरा० अ० १ गा० २]

(८५-८८)

अह पन्नरसहिं ठाणेहिं, सुविणीए त्ति वुच्चइ ।
नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ॥७॥
अप्पं च अहिक्खिवई, पबन्धं च न कुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणो भयइ, सुयं लद्धुं न मज्जइ ॥८॥
न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पइ ।
अप्पियस्साऽवि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासइ ॥९॥
कलहडमरवज्जिए, बुद्धे अभिजाइए ।
हिरिमं पडिसंलीणे, सुविणीए त्ति वुच्चइ ॥१०॥

—[उत्तरा० अ० ११ गा० १०-११-१२-१३]

(८२-८३)

इन आठ कारणों से मनुष्य शिक्षा-शील कहलाता है :

हर समय हँसनेवाला न हो; सतत इंद्रिय-निग्रही हो; दूसरों के मर्म को भेदन करनेवाले वचन न बोलता हो; सुशील हो; दुराचारी न हो; रसलोलुप न हो; सत्य में रत हो; क्रोधी न हो शान्त हो।

(८४)

जो गुरु की आज्ञा पालता है, उनके पास रहता है, उनके इंगितों तथा आकारों को जानता है, वही शिष्य विनीत कहलाता है।

(८५-८८)

इन पन्द्रह कारणों से बुद्धिमान मनुष्य सुविनीत कहलाता है :

उद्धत न हो नम्र हो; चपल न हो स्थिर हो; मायावी न हो सरल हो; कुतूहली न हो गम्भीर हो; किसीका तिरस्कार न करता हो; क्रोध को अधिक समय तक न रखता हो शीघ्र ही शान्त हो जाता हो; अपने से मित्रता का व्यवहार रखनेवालों के प्रति पूरा सद्भाव रखता हो; शास्त्रों के अध्ययन का गर्व न करता हो; किसीके दोषों का भण्डाफोड़ न करता हो; मित्रों पर क्रोधित न होता हो, अप्रिय मित्र की भी पीठ-पीछे भलाई ही करता हो; किसी प्रकार का झगड़ा फसाद न करता हो; बुद्धिमान हो; अभिजात अर्थात् कुलीन हो, लज्जा-शील हो, एकाग्र हो।

(८९)

आणाऽनिद्देसकरे, गुरूणमणुववायकारए ।
पडिणीए असंबुद्धे, अविणीए त्ति वुच्चइ ॥११॥
—[उत्तरा० अ० १ गा० ३]

(९०-९२)

अभिक्खणं कोही हवइ, पबन्धं च पकुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणो वमइ, सुयं लद्धूण मज्जई ॥१२॥
अवि पावपरिक्खेवी, अवि मित्तेसु कुप्पइ ।
सुप्पियस्साऽवि मित्तस्स, रहे भासइ पावगं ॥१३॥
पइण्णवादी दुहिले, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।
असंविभागी अचियत्ते, अवीणीए त्ति वुच्चइ ॥१४॥
—[उत्तरा० अ० ११ गा० ७-८-९]

(९३)

जस्सन्तिए धम्मपयाइं सिक्खे,
तस्सन्तिए वेणइयं पउंजे ।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ,
काय-ग्गिरा भो ! मणसा य निच्चं ॥१५॥
—[दश० अ० ९ उ० १ गा० १२]

(८९)

जो गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करता, जो उनके पास नहीं रहता, जो उनसे शत्रुता का बर्ताव रखता है, जो विवेक-शून्य है, उसे अविनीत कहते हैं।

(९०-९२)

जो बार-बार क्रोध करता है, जिसका क्रोध शीघ्र ही शान्त नहीं होता; जो मित्रता रखनेवालों का भी तिरस्कार करता है; जो शास्त्र पढ़कर गर्व करता है; जो दूसरों के दोषों को ही उघाड़ता रहता है; जो अपने मित्रों पर भी क्रुद्ध हो जाता है, जो अपने प्यारे-से-प्यारे मित्र की भी पीठ-पीछे बुराई करता है; जो मनमाना बोल उठता है बकवादी है; जो स्नेही-जनों से भी द्रोह रखता है; जो अहंकारी है, जो लुब्ध है, जो इन्द्रियनिग्रही नहीं, जो आहार आदि पा कर अपने साधर्मी को न देकर अकेला ही खानेवाला अविसंभागी है, जो सबको अप्रिय है, वह अविनीत कहलाता है।

(९३)

शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह जिस गुरु से धर्म-प्रवचन सीखे, उसकी निरन्तर विनय-भक्ति करे। मस्तक पर अंजलि चढ़ा कर गुरु के प्रति सम्मान प्रदर्शित करे। जिस तरह भी हो सके उसी तरह मन से, वचन से और शरीर से हमेशा गुरु की सेवा करे।

(१४)

थंभा व कोहा व मयप्पमाया,
गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे ।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो,
फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥१६॥
—[दश० अ० ९ उ० १ गा० १]

(१५)

विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणीयस्स य ।
जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ ॥१७॥
—[दश० अ० ९ उ० २ गा० २२]

(१४)

जो शिष्य अभिमान, क्रोध, मद या प्रमाद के कारण गुरु की विनय (भक्ति) नहीं करता, वह इससे अभूति अर्थात् पतन को प्राप्त होता है। जैसे बाँस का फल उसके ही नाश के लिए होता है, उसी प्रकार अविनीत का ज्ञान-बल भी उसीका सर्व-नाश करता है।

(१५)

'अविनीत को विपत्ति प्राप्त होती है, और विनीत को सम्पत्ति' ये दो बातें जिसने जान ली है, वही शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

: १० :

चाउरंगिज्ज-सुत्तं

(९६)

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो ।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥१॥

–[उत्तरा० अ० ३ गा० १]

(९७)

समावन्नाण संसार, नाणागोत्तासु जाइसु ।
कम्मा नाणाविहा कट्टु, पुढो विस्संभिया पया ॥२॥

–[उत्तरा अ० ३ गा० २]

(९८)

एगया देवलोएसु नरएसु वि एगया ।
एगया आसुरं कायं आहाकम्मेहिं गच्छइ ॥३॥

–[उत्तरा० अ० ३ गा० ३]

(९९)

एगया खत्तिओ होइ, तओ चंडाल-बुक्कसो ।
तओ कीड-पयंगो य, तओ कुन्थु-पिवीलिया ॥४॥

–[उत्तरा० अ० ३ गा० ४]

: १० :

चतुरङ्गीय-सूत्र

(१६)

संसार में जीवों को इन चार श्रेष्ठ अङ्गों (जीवन-विकास के साधनों) का प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है :

मनुष्यत्व; धर्मश्रवण; श्रद्धा और संयम में पुरुषार्थ ।

(१७)

संसार की मोह-माया में फँसी हुई मूर्ख प्रजा अनेक प्रकार के पाप-कर्म करके अनेक गोत्रोंवाली जातियों में जन्म लेती है। सारा विश्व इन जातियों से भरा हुआ है ।

(१८)

जीव कभी देव-लोक में कभी नरक-लोक में, और कभी असुर-लोक में जाता है । जैसे भी कर्म होते हैं, वह वहीं पहुँच जाता है ।

(१९)

कभी तो वह क्षत्रिय होता है और कभी चाण्डाल, कभी वर्ण-संकर बुक्कस, कभी कीड़ा, कभी पतङ्ग, कभी कुंथुआ, तो कभी चींटी होता है ।

(१००)

एवमावट्टजोणीसु पाणिणो कम्मकिब्बिसा ।
न निव्विज्जन्ति संसारे, सव्वट्ठेसु व खत्तिया ॥५॥

—[उत्तरा० अ० ३ गा० ५]

(१०१)

कम्मसंगेहिं सम्मूढा, दुक्खिया बहुवेयणा ।
अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मन्ति पाणिणो ॥६॥

—[उत्तरा० अ० ३ गा० ६]

(१०२)

कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययन्ति मणुस्सयं ॥७॥

—[उत्तरा० अ० ३ गा० ७]

(१०३)

माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा ।
जं सोच्चा पडिवज्जन्ति, तवं खन्तिमहिंसयं ॥८॥

—[उत्तरा० अ० ३ गा० ८]

(१०४)

आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परमदुल्लहा ।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं, बहवे परिभस्सई ॥९॥

—[उत्तरा० अ० ३ गा० ९]

(१००)

पाप-कर्म करनेवाले प्राणी इस भाँति हमेशा बदलती रहनेवाली योनियों में बारम्बार पैदा होते रहते हैं; किंतु इस दुःखपूर्ण संसार से कभी खिन्न नहीं होते, जैसे दुःख पूर्ण राज्य से क्षत्रिय।

(१०१)

जो प्राणी काम-वासनाओं से विमूढ़ हैं, वे भयङ्कर दुःख तथा वेदना भोगते हुए चिरकाल तक मनुष्येतर योनियों में भटकते रहते हैं।

(१०२)

संसार में परिभ्रमण करते-करते जब कभी बहुत काल में पाप-कर्मों का वेग क्षीण होता है और उसके फलस्वरूप अन्तरात्मा क्रमशः शुद्धि को प्राप्त होता है; तब कहीं मनुष्य-जन्म मिलता है।

(१०३)

मनुष्य-शरीर पा लेने पर भी सद्धर्म का श्रवण दुर्लभ है, जिसे सुनकर मनुष्य तप, क्षमा और अहिंसा को स्वीकार करते हैं।

(१०४)

सौभाग्य से यदि कभी धर्म का श्रवण प्राप्त भी हो जाता है, तो उस पर श्रद्धा का होना अत्यन्त दुर्लभ है। कारण कि बहुत-से लोग न्याय-मार्ग को सत्य-सिद्धान्त को सुनकर भी उससे दूर ही रहते हैं उसपर विश्वास नहीं लाते।

(१०५)

सुइं च लद्धुं सद्धं च, वीरियं पुण दुल्लहं ।
बहवे रोयमाणा वि, नो य णं पडिवज्जए ॥१०॥

—[उत्तरा० अ० ३ गा० १०]

(१०६)

माणुसत्तम्मि आयाओ, जो धम्मं सोच्च सद्दहे ।
तवस्सी वीरियं लद्धुं, संवुडे निद्धुणे रयं ॥११॥

—[उत्तरा० अ० ३ गा० ११]

(१०७)

सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ ।
निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्ते व पावए ॥१२॥

—[उत्तरा० अ० ३ गा० १२]

(१०८)

विगिंच कम्मणो हेउं, जसं संचिणु खन्तिए ।
सरीरं पाढवं हिच्चा, उड्ढं पक्कमई दिसं ॥१३॥

—[उत्तरा० अ० ३ गा० १३]

(१०५)

सद्धर्म का श्रवण और उसपर श्रद्धा दोनों प्राप्त कर लेने पर भी उनके अनुसार पुरुषार्थ करना तो और भी कठिन है। क्योंकि संसार में बहुत-से लोग ऐसे हैं, जो सद्धर्म पर दृढ़ विश्वास रखते हुए भी उसे आचरण में नहीं लाते !

(१०६)

परन्तु जो तपस्वी मनुष्यत्व को पाकर, सद्धर्म का श्रवण कर, उसपर श्रद्धा लाता है और तदनुसार पुरुषार्थ कर आस्रव-रहित हो जाता है, वह अन्तरात्मा पर से कर्म-रज को झटक देता है।

(१०७)

जो मनुष्य निष्कपट एवं सरल होता है, उसीकी आत्मा शुद्ध होती है। और, जिसकी आत्मा शुद्ध होती है, उसीके पास धर्म ठहर सकता है। घी से सींची हुई अग्नि जिस प्रकार पूर्ण प्रकाश को पाती है, उसी प्रकार सरल और शुद्ध साधक ही पूर्ण निर्वाण को प्राप्त होता है।

(१०८)

कर्मों के पैदा करनेवाले कारणों को ढूँढो उनका छेद करो, और फिर क्षमा आदि के द्वारा अक्षय यश का संचय करो। ऐसा करनेवाला मनुष्य इस पार्थिव शरीर को छोड़कर ऊर्ध्व-दिशा को प्राप्त करता है अर्थात् उच्च और श्रेष्ठ गति पाता है।

(१०१)

चउरंगं दुल्लहं मत्ता, संजमं पडिवज्जिया ।
तवसा धुयकम्मंसे, सिद्धे हवइ सासए ॥१४॥

—[उत्तरा० अ० ३ गा० २०]

(१०९)

जो मनुष्य उक्त चार अंगों को दुर्लभ जानकर संयम-मार्ग स्वीकार करता है, वह तप के द्वारा सब कर्मांशों का नाश कर सदा के लिए सिद्ध हो जाता है।

: ११ :

अप्पमाय-सुत्तं

(११०)

असंखयं जीविय मा पमायए,
जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।
एवं विजाणाहि जणे पमत्ते,
कं नु विहिंसा अजया गहिन्ति ? ॥१॥
–[उत्तरा० अ० ४ गा० १]

(१११)

जे पावकम्मेहि धणं मणुस्सा,
समाययन्ति अमयं गहाय।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे,
वेराणुबद्धा नरयं उवेन्ति ॥२॥
–[उत्तरा० अ० ४ गा० २]

(११२)

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्थ।
दीवप्पणट्ठे व अणतमोहे,
नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥३॥
–[उत्तरा० अ० ४ गा० ५]

: ११ :

अप्रमाद-सूत्र

(११०)

जीवन असंस्कृत है अर्थात् एक बार टूट जाने के बाद फिर नहीं जुड़ता; अतः एक क्षण भी प्रमाद न करो।

'प्रमाद, हिंसा और असंयम में अमूल्य यौवन-काल बिता देने के बाद जब वृद्धावस्था आवेगी, तब तुम्हारी कौन रक्षा करेगा तब किसकी शरण लोगे ?' यह खूब सोच-विचार लो।

(१११)

जो मनुष्य अनेक पाप-कर्म कर, वैर-विरोध बढ़ाकर, अमृत की तरह धन का संग्रह करते हैं, वे अन्त में कर्मों के दृढ़ पाश में बँधे हुए सारी धन-सम्पत्ति यहीं छोड़कर नरक को प्राप्त होते हैं।

(११२)

प्रमत्त पुरुष धन के द्वारा न तो इस लोक में ही अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोक में ! फिर भी धन के असीम मोह से मूढ़ मनुष्य, दीपक के बुझ जाने पर जैसे मार्ग नहीं दीख पड़ता, वैसे ही न्याय-मार्ग को देखते हुए भी नहीं देख पाता।

(११३)

तेणे जहा सन्धिमुहे गहीए,
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी ।
एवं पया पेच्च इहं च लोए,
कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि ॥४॥
—[उत्तरा० अ० ४ गा० ३]

(११४)

संसारमावन्न परस्स अट्ठा,
साहारण जं च करेइ कम्मं ।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले,
न बन्धवा बन्धवयं उवेन्ति ॥५॥
—[उत्तरा० अ० ४ गा० ४]

(११५)

सुत्तेसु या वि पडिबुद्धजीवी,
न वीससे पण्डिए आसुपन्ने ।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं,
भारंडपक्खी व चरेऽपमत्ते ॥६॥
—[उत्तरा० अ० ४ गा० ६]

(११६)

चरे पयाइं परिसंकमाणो,
जं किंचि पासं इह मण्णमाणो ।

(११३)

जैसे चोर सेंध के द्वार पर पकड़ा जाकर अपने ही दुष्कर्म के कारण चीरा जाता है, वैसे ही पाप करनेवाला प्राणी भी इस लोक में तथा परलोक में दोनों ही जगह भयङ्कर दुःख पाता है। क्योंकि कृत कर्मों को भोगे बिना कभी छुटकारा नहीं हो सकता।

(११४)

संसारी मनुष्य अपने प्रिय कुटुम्बियों के लिए बुरे-से-बुरे पाप-कर्म भी कर डालता है, पर जब उनके दुष्फल भोगने का समय आता है, तब अकेला ही दुःख भोगता है, कोई भी भाई-बन्धु उसका दुःख बँटानेवाला सहायता-पहुँचाने वाला नहीं होता।

(११५)

आशु-प्रज्ञ पंडित-पुरुष को मोह-निद्रा में सोते रहनेवाले संसारी मनुष्यों के बीच रहकर भी सब ओर से जागरूक रहना चाहिए—किसीका विश्वास नहीं करना चाहिए। 'काल निर्दय है और शरीर निर्बल' यह जानकर भारण्ड पक्षी की तरह हमेशा अप्रमत्त भाव से विचरना चाहिए।

(११६)

संसार में जो कुछ धन जन आदि पदार्थ हैं, उन सबको पाश-रूप जानकर मुमुक्षु बड़ी सावधानी से फूँक-फूँककर पाँव रखे। जबतक शरीर सशक्त है, तबतक उसका उपयोग अधिक-

लाभन्तरे जीवियं वूहइत्ता,
पच्छा परिन्नाय मलावधंसी ॥७॥
-[उत्तरा० अ० ४ गा० ७]

(११७)

छन्दंनिरोहेण उवेइ मोक्खं,
आसे जहा सिक्खियवम्मधारी ।
पुव्वाइं वासाइं चरेऽप्पमत्त,
तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं ॥८॥
-[उत्तरा० अ० ४ गा० ८]

(११८)

स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा,
एसोवमा सासयवाइयाणं ।
विसीयई सिढिले आउयम्मि,
कालोवणीए सरीरस्स भेए ॥९॥
-[उत्तरा० अ० ४ गा० ९]

(११९)

खिप्प न सक्केइ विवेगमेउ,
तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे ।

से-अधिक संयम-धर्म की साधना के लिए कर लेना चाहिए। बाद में जब वह बिल्कुल ही अशक्त हो जावे, तब बिना किसी मोह-ममता के मिट्टी के ढेले के समान उसका त्याग कर देना चाहिए।

(११७)

जिस प्रकार शिक्षित (सधा हुआ) तथा कवचधारी घोड़ा युद्ध में विजय प्राप्त करता है, उसी प्रकार विवेकी मुमुक्षु भी जीवन-संग्राम में विजयी होकर मोक्ष प्रात करता है। जो मुनि दीर्घकाल तक अप्रमत्तरूप से संयम-धर्म का आचरण करता है, वह शीघ्रातिशीघ्र मोक्ष-पद पाता है।

(११८)

शाश्वत-वादी लोग कल्पना बाँधा करते हैं कि 'सत्कर्म-साधना की अभी क्या जल्दी है, आगे कर लेंगे!' परन्तु यों करते-करते भोग-विलास में ही उनका जीवन समाप्त हो जाता है, और एक दिन मृत्यु सामने आ खड़ी होती है, शरीर नष्ट हो जाता है। अन्तिम समय में कुछ भी नहीं बन पाता; उस समय तो मूर्ख मनुष्य के भाग्य में केवल पछताना ही शेष रहता है।

(११९)

आत्म-विवेक कुछ झटपट प्राप्त नहीं किया जाता इसके लिए तो भारी साधना की आवश्यकता है। महर्षि जनों को बहुत पहले से ही संयम-पथ पर दृढ़ता से खड़े होकर, काम-भोगों का

समिच्च लोयं समया महेसी,
आयाणुरक्खी चरमप्पमत्ते ॥१०॥
-[उत्तरा० अ० ४ गा० १०]

(१२०)

मुहुं मुहुं मोहगुणे जयन्तं,
अणेगरूवा समणं चरन्तं ।
फासा फुसन्ती असमंजसं च,
न तेसि भिक्खू मणसा पउस्से ॥११॥
-[उत्तरा० अ० ४ गा० ११]

(१२१)

मन्दा य फासा बहुलोहणिज्जा,
तहप्पगारेसु मणं न कुज्जा ।
रक्खिज्ज कोहं विणएज्ज माणं,
मायं न सेवे पयहेज्ज लोहं ॥१२॥
-[उत्तरा० अ० ४ गा० १२]

(१२२)

जे संखया तुच्छ परप्पवाई,
ते पिज्ज-दोसाणुगया परज्झा ।
एए अहम्मे त्ति दुगुंछमाणो,
कंखे गुणे जाव सरीरभेए ॥१३॥
-[उत्तरा० अ० ४ गा० १३]

परित्याग कर, समतापूर्वक स्वार्थी संसार की वास्तविकता को समझ-कर, अपनी आत्मा की पापों से रक्षा करते हुए सर्वदा अप्रमादी रूप से विचरना चाहिए।

(१२०)

मोह-गुणों के साथ निरन्तर युद्ध करके विजय प्राप्त करने-वाले श्रमण को अनेक प्रकार के प्रतिकूल स्पर्शों का भी बहुत बार सामना करना पड़ता है। परन्तु भिक्षु उनपर तनिक भी अपने मन को क्षुब्ध न करे शान्त भाव से अपने लक्ष्य की ओर ही अग्रसर होता रहे।

(१२१)

संयम-जीवन में मन्दता पैदा करनेवाले काम-भोग बहुत ही लुभावने मालूम होते हैं। परन्तु संयमी पुरुष उनकी ओर अपने मन को कभी आकृष्ट न होने दे। आत्म-शोधक साधक का कर्त्तव्य है कि वह क्रोध को दबाए, अहङ्कार को दूर करे, माया का सेवन न करे और लोभ को छोड़ दे।

(१२२)

जो मनुष्य ऊपर-ऊपर से संस्कृत जान पड़ते हैं परन्तु वस्तुतः तुच्छ हैं, दूसरों की निन्दा करनेवाले हैं, राग-द्वेष से युक्त हैं, परवश हैं, वे सब अधर्माचरणवाले हैं इस प्रकार विचार-पूर्वक दुर्गुणों से घृणा करता हुआ मुमुक्षु शरीर-नाश पर्यन्त (जीवन-पर्यन्त) केवल सद्‌गुणों की ही कामना करता रहे।

: ११–२ :

अप्पमाय-सुत्तं

(१२३)

दुमपत्तए पंडुयए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए ।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१॥

(१२४)

कुसग्गे जह ओसबिन्दुए, थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए ।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२॥

(१२५)

इइ इत्तरियम्मि आउए, जीवियए बहुपच्चवायए ।
विहुणाहि रयं पुरेकडं, समयं गोयम ! मा पमाय ॥३॥

(१२६)

दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्व-पाणिणं ।
गाढाय विवाग कम्मुणो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥४॥

: ११-२ :

अप्रमाद-सूत्र

(१२३)

जैसे वृक्ष का पत्ता पतझड़-ऋतुकालिक रात्रि-समूह के बीत जाने के बाद पीला होकर गिर जाता है, वैसे ही मनुष्यों का जीवन भी आयु के समाप्त होने पर सहसा नष्ट हो जाता है। इसलिए हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१२४)

जिस तरह जैसे ओस की बूँद कुशा की नोक पर थोड़ी देर-तक ही ठहरी रहती है, उसी तरह मनुष्यों का जीवन भी बहुत अल्प है—शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाला है। इसलिए हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१२५)

अनेक प्रकार के विघ्नों से युक्त अत्यन्त अल्प आयुवाले इस मानव-जीवन में पूर्व सञ्चित कर्मों की धूल को पूरी तरह झटक दे। इसके लिए हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१२६)

दीर्घकाल के बाद भी प्राणियों को मनुष्य-जन्म का मिलना बड़ा दुर्लभ है, क्योंकि कृत-कर्मों के विपाक अत्यन्त प्रगाढ़ होते हैं। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१२७)

पुढविकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईय, समयं गोयम ! मा पमायए ॥५॥

(१२८)

आउकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईय, समय गोयम ! मा पमायए ॥६॥

(१२९)

तेउकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
काल संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥७॥

(१३०)

वाउकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईय, समयं गोयम ! मा पमायए ॥८॥

(१३१)

वणस्सइकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालमणन्तदुरन्तयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥९॥

(१३२)

वेइन्दियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१०॥

(१२७)

यह जीव पृथिवी-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट असंख्य काल तक रहा। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१२८)

यह जीव जल-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट असंख्य काल तक रहा। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१२९)

यह जीव तेजस्काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट असंख्य काल तक रहा। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१३०)

यह जीव वायु-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट असंख्य काल तक रहा। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१३१)

यह जीव वनस्पति-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट अनन्त काल तक जिसका बड़ी कठिनता से अन्त होता है रहा। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१३२)

यह जीव द्वीन्द्रिय-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट संख्येय काल तक रहा। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१३३)

तेइन्दियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥११॥

(१३४)

चउरिन्दियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१२॥

(१३५)

पंचिन्दियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
सत्तट्ठभवग्गहणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१३॥

—[उत्तरा० अ० १० गा० १--१३]

(१३६)

एवं भवसंसारे संसरइ, सुहासुहेहिं कम्मेहिं ।
जीवो पमायबहुलो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१४॥

—[उत्तरा० अ० १० गा० १५]

(१३७)

लद्धूण वि माणुसत्तणं, आरियत्तं पुणरावि-दुल्लभं ।
बहवे दसुया मिलक्खुया, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१५॥

(१३३)

यह जीव त्रीन्द्रिय-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट संख्यात काल तक रहा। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१३४)

यह जीव चतुरिन्द्रिय-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट संख्यात काल तक रहा। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१३५)

यह जीव पंचेन्द्रिय-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट सात तथा आठ जन्म-तक निरन्तर रहा। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर!

(१३६)

प्रमाद-बहुल जीव अपने शुभाशुभ कर्मों के कारण इस भाँति अनन्त बार भव-चक्र में इधर से उधर घूमा करता है। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१३७)

मनुष्य-जन्म पा लिया तो क्या! आर्यत्व का मिलना बड़ा कठिन है। बहुत-से जीव मनुष्यत्व पाकर भी दस्यु और म्लेच्छ जातियों में जन्म लेते हैं। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१३८)

लद्धूण वि आरियत्तणं, अहीणपंचिन्दियया हु दुल्लहा ।
विगलिन्दियया हु दीसई, समयं ! गोयम मा पमायए ॥१६॥

(१३९)

अहीणपंचेन्दियत्तं पि से लहे, उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा ।
कुतित्थिनिसेवए जणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१७॥

(१४०)

लद्धूण वि उत्तमं सुइं, सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा ।
मिच्छत्तनिसेवए जणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१८॥

(१४१)

धम्मं पि हु सद्दहन्तया, दुल्लहया काएण फासया ।
इह कामगुणेहि मुच्छिया, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१९॥

—[उत्तरा० अ० १० गा० १६-२०]

(१४२)

परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवन्ति ते ।
से सव्वबले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२०॥

—[उत्तरा० अ० १० गा० २६]

(१३८)

आर्यत्व पाकर भी पाँचों इन्द्रियों को परिपूर्ण पाना बड़ा कठिन है। बहुत-से लोग आर्य-क्षेत्र में जन्म लेकर भी विकल इन्द्रियों वाले देखे जाते हैं। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१३९)

पाँचों इन्द्रियाँ परिपूर्ण पाकर भी उत्तम धर्म का श्रवण प्राप्त होना कठिन है। बहुत-से लोग पाखण्डी गुरुओं की सेवा किया करते हैं। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१४०)

उत्तम धर्म का श्रवण पाकर भी उसपर श्रद्धा का होना बड़ा कठिन है। बहुत-से लोग सब कुछ जान-बूझकर भी मिथ्यात्व की उपासना में ही लगे रहते हैं। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१४१)

धर्म पर श्रद्धा लाकर भी शरीर से धर्म का आचरण करना बड़ा कठिन है। संसार में बहुत-से धर्म-श्रद्धालु मनुष्य भी काम-भोगों में मूर्छित रहते हैं। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१४२)

तेरा शरीर दिन-प्रति-दिन जीर्ण होता जा रहा है, सिर के बाल पककर श्वेत होने लगे हैं, अधिक क्या शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार का बल घटता जा रहा है। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१४३)

अरई गण्डं विसूइया, आयंका विविहा फुसन्ति ते ।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं, समयं गोयम ! मा पमायए
॥२१॥

(१४४)

वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो, कुमुयं सारइयं व पाणियं ।
से सव्वसिणेहवज्जिए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२२॥

(१४५)

चिच्चाण धणं च भारियं, पव्वइओ हि सि अणगारियं ।
मा वन्तं पुणो वि आविए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२३॥

(१४६)

अवउज्झिय मित्तबन्धवं, विउलं चेव धणोहसंचयं ।
मा तं बिइयं गवेसए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२४॥
—[उत्तरा० अ० १० गा० २७–३०]

(१४३)

अरुचि, फोड़ा, विसूचिका (हैजा) आदि अनेक प्रकार के रोग शरीर में बढ़ते जा रहे है, इनके कारण तेरा शरीर बिल्कुल क्षीण तथा ध्वस्त हो रहा है। हे गौतम ! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१४४)

जैसे कमल शरत्काल के निर्मल जल को भी नहीं छूता अलग अलिप्त रहता है, उसी प्रकार तू भी संसार से अपनी समस्त आसक्तियाँ दूर कर, सब प्रकार के स्नेह-बन्धनों से रहित हो जा। हे गौतम ! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१४५)

स्त्री और धन का परित्याग करके तू महान् अनगार पद को पा चुका है, इसलिए अब फिर इन वमन की हुई वस्तुओं का पान न कर। हे गौतम ! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१४६)

विपुल धनराशि तथा मित्र-बान्धवों को एकबार स्वेच्छा-पूर्वक छोड़कर, अब फिर दोबारा उनकी गवेषणा (पूछताछ) न कर। हे गौतम ! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१४७)

अवले जह भारवाहए, मा मग्गे विसमेऽवगाहिया ।
पच्छा पच्छाणुतावए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२५॥

(१४८)

तिण्णो सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ? ।
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२६॥

—[उत्तरा० अ० १० गा० ३३-३४]

(१४९)

बुद्धस्स निसम्म भासियं, सुकहियमट्ठपदोवसोहियं ।
रागं दोसं च छिन्दिया, सिद्धिगइं गए गोयमे ॥२७॥

—[उत्तरा० अ० १० गा० ३७]

(१४७)

घुमावदार विषम मार्ग को छोड़कर तू सीधे और साफ़ मार्ग पर चल। विषम मार्ग पर चलनेवाले निर्बल भार-वाहक की तरह बाद में पछतानेवाला न बन। हे गौतम ! क्षण मात्र भी प्रमाद न कर।

(१४८)

तू विशाल संसार समुद्र को तैर चुका है, अब भला किनारे आकर क्यों अटक रहा है ? उस पार पहुँचने के लिए जितनी भी हो सके शीघ्रता कर। हे गौतम ! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१४९)

भगवान् महावीर के इस भाँति अर्थयुक्त पदोंवाले सुभाषित वचनों को सुनकर श्री गौतम स्वामी राग तथा द्वेष का छेदन कर सिद्धि-गति को प्राप्त हो गये।

पमायट्ठाण-सुत्तं

(१५०)

पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहावरं ।
तब्भावादेसओ वावि, बालं पंडियमेव वा ॥१॥

–[सूत्र० श्रु० १ अ० ८ गा० ३]

(१५१)

जहा य अंडप्पभवा बलागा,
अंडं बलागप्पभवं जहा य ।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा,
मोहं च तण्हाययणं वयन्ति ॥२॥

(१५२)

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं,
कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति ।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाईमरणं वयन्ति ॥३॥

(१५३)

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।

: १२ :

प्रमाद-स्थान सूत्र

(१५०)

प्रमाद को कर्म कहा है और अप्रमाद को अकर्म अर्थात् जो प्रवृत्तियाँ प्रमाद-युक्त हैं वे कर्म बन्धन करनेवाली हैं, और जो प्रवृत्तियाँ प्रमाद-रहित हैं वे कर्म-बन्धन नहीं करतीं। प्रमाद के होने और न होने से ही मनुष्य क्रमशः मूर्ख और पंडित कहलाता है।

(१५१)

जिस प्रकार बगुली अंडे से पैदा होती है और अंडा बगुली से पैदा होता है, उसी प्रकार मोह का उत्पत्ति-स्थान तृष्णा है और तृष्णा का उत्पत्ति-स्थान मोह है।

(१५२)

राग और द्वेष दोनों कर्म के बीज हैं अतः कर्म का उत्पादक मोह ही माना गया है। कर्म-सिद्धान्त के अनुभवी लोग कहते हैं कि संसार में जन्म-मरण का मूल कर्म है, और जन्म-मरण यही एकमात्र दुःख है।

(१५३)

जिसे मोह नहीं है उसका दुःख चला गया; जिसे तृष्णा नहीं उसका मोह चला गया, जिसे लोभ नहीं है, उसकी तृष्णा चली गई;

तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥४॥
-[उत्तरा० अ० ३२ गा० ६-८]

(१५४)

रसा पगामं न निसेवियव्वा,
पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति,
दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥५॥
-[उत्तरा० अ० ३२ गा० १०]

(१५५)

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे से जह वा पयंगे,
आलोयलोले समुवेइ मच्चुं ॥६॥
-[उत्तरा० अ० ३२ गा० २४]

(१५६)

रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कुत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।
तत्थोवभोगे वि किलेस-दुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥७॥

जिसके पास लोभ करने-जैसा कुछ भी पदार्थ-संग्रह नहीं है, उसका लोभ चला गया।

(१५४)

दूध और दही आदि रसों का अधिक मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए; क्योंकि रस प्रायः मनुष्यों में मादकता पैदा करते हैं। मत्त मनुष्य की ओर काम-वासनाएँ वैसे ही दौड़ी आती हैं, जैसे स्वादिष्ट फलवाले वृक्ष की ओर पक्षी।

(१५५)

जो मूर्ख मनुष्य सुन्दर रूप के प्रति तीव्र आसक्ति रखता है, वह अकाल में ही नष्ट हो जाता है। रागातुर व्यक्ति रूप-दर्शन की लालसा में वैसे ही मृत्यु को प्राप्त होता है, जैसे दीये की ज्योति देखने की लालसा में पतंग।

(१५६)

रूप में आसक्त मनुष्य को कहीं से भी कभी किंचिन्मात्र भी सुख नहीं मिल सकता। खेद है कि जिसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य महान् कष्ट उठाता है, उसके उपभोग में कुछ भी सुख न पाकर केवल क्लेश तथा दुःख ही पाता है।

(१५७)

एमेव रूवम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥८॥

(१५८)

रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पए भवमज्झे वि सन्तो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥९॥

—[उत्तरा० अ० ३२ गा० ३३-३४]

(१५९)

एविन्दियत्था य मणस्स अत्था,
दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो ।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं,
न वीयरागस्स करेन्ति किंचि ॥१०॥

—[उत्तरा० अ० ३२ गा० १००]

(१६०)

न कामभोगा समयं उवेन्ति,
न यावि भोगा विगइं उवेन्ति ।
जे तप्पओसी य परिग्गही य,
सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥११॥

—[उत्तरा० अ० ३२ गा० १०१]

(१५७)

जो मनुष्य कुत्सित रूपों के प्रति द्वेष रखता है, वह भविष्य में असीम दुःखपरंपरा का भागी होता है। प्रदुष्टचित्त द्वारा ऐसे पापकर्म संचित किये जाते हैं, जो विपाक-काल मे भयंकर दुःख-रूप होते हैं।

(१५८

रूप से विरक्त मनुष्य ही वास्तव में शोक-रहित है। वह संसार में रहते हुए भी दुःख-प्रवाह से वैसे ही अलिप्त रहता है, जैसे कमल का पत्ता जल से

(१५९)

रागी मनुष्य के लिए ही उपर्युक्त इन्द्रियों तथा मन के विषय-भोग इस प्रकार दुःख के कारण होते है। परन्तु वे ही वीतरागी को किसी भी प्रकार से कभी तानिक भी दुःख नहीं पहुँचा सकते।

(१६०)

काम-भोग अपने-आप तो न किसी मनुष्य में समभाव पैदा करते हैं और न किसी में राग-द्वेषरूप विकृति पैदा करते हैं। परन्तु मनुष्य स्वयं ही उनके प्रति राग-द्वेष के नाना संकल्प बनाकर मोह से विकार-ग्रस्त हो जाता है।

(१६१)

अणाइकालप्पभवस्स एसो,
सव्वस्स दुक्खस्स पमोक्खमग्गो ।
वियाहिओ जं समुविच्च सत्ता,
कमेण अच्चन्तसुही भवन्ति ॥१२॥

-[उत्तरा० अ० ३२ गा० १११]

(१६१)

अनादि काल से उत्पन्न होते रहनेवाले सभी प्रकार के सासारिक दुःखों से छूट जाने का यह मार्ग ज्ञानी पुरुषों ने बतलाया है। जो प्राणी उक्त मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे क्रमशः मोक्ष-धाम प्राप्त कर अत्यन्त सुखी होते हैं।

कसाय-सुत्तं

(१६२)

कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
माया य लोभो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचन्ति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥१॥

–[दश० अ० ८ गा० ४०]

(१६३)

कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं ।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छन्तो हियमप्पणो ॥२॥

–[दश० अ० ८ गा० ३७]

(१६४)

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥३॥

–[दश० अ० ८ गा० ३८]

(१६५)

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायमज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥४॥

–[दश० अ० ८ गा० ३९]

: १३ :

कषाय-सूत्र

(१६२)

अनिग्रहीत क्रोध और मान, तथा प्रवर्द्धमान (बढ़ते हुए) माया और लोभ ये चारों ही काले कुत्सित कषाय पुनर्जन्म रूपी संसार-वृक्ष की जड़ों को सींचते हैं।

(१६३)

जो मनुष्य अपना हित चाहता है, वह पाप को बढ़ानेवाले क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार दोषों को सदा के लिए छोड़ दे।

(१६४)

क्रोध प्रीति का नाश करता है; मान विनय का नाश करता है; माया मित्रता का नाश करती है; और लोभ सभी सद्गुणों का नाश कर देता है।

(१६५)

शान्ति से क्रोध को मारे; नम्रता से अभिमान को जीते; सरलता से माया का नाश करे; और सन्तोष से लोभ को काबू में लाये।

(१६६)

कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स ।
तेणाऽवि से न संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥५॥

(१६७)

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ ।
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥६॥
—[उत्तरा० अ० ८ गा० १६–१२]

(१६८)

अहे वयन्ति कोहेण, माणेणं अहमा गई ।
माया गइपडिग्घाओ, लोहाओ दुहओ भयं ॥७॥
—[उत्तरा० अ० ९ गा० ५४]

(१६९)

सुवण्ण-रुप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया ॥८॥

(१७०)

पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह ।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥९॥
—[उत्तरा० अ० ९ गा० ४८–४९]

(१६६)

अनेक प्रकार के बहुमूल्य पदार्थों से परिपूर्ण यह समग्र विश्व भी यदि किसी एक मनुष्य को दे दिया जाये, तो भी वह सन्तुष्ट नहीं होगा। अहो! मनुष्य की यह तृष्णा बड़ी दुष्पूर है!

(१६७)

ज्यों-ज्यों लाभ होता जाता है, त्यों-त्यो लोभ भी बढ़ता जाता है। देखो न, पहले केवल दो मासे सुवर्ण की आवश्यकता थी; पर बाद में वह करोड़ों से भी पूरी न हो सकी।

(१६८)

क्रोध से मनुष्य नीचे गिरता है, अभिमान से अधम गति को पहुँचता है, माया से सद्गति का नाश होता है और लोभ से इस लोक तथा परलोक में महान् भय है।

(१६९)

चाँदी और सोने के कैलास के समान विशाल असंख्य पर्वत भी यदि पास में हो, तो भी लोभी मनुष्य की तृप्ति के लिए वे कुछ भी नहीं। कारण कि तृष्णा आकाश के समान अनन्त है।

(१७०)

चॉवल और जौ आदि धान्यों तथा सुवर्ण और पशुओं से परिपूर्ण यह समस्त पृथिवी भी लोभी मनुष्य को तृप्त कर सकने में असमर्थ है यह जानकर सयम का ही आचरण करना चाहिए।

(१७१)

कोहं च माणं च तहेव मायं,
लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा ।
एयाणि वन्ता अरहा महेसी,
न कुव्वई पाव न कारवेई ॥१०॥
—[सूत्र० श्रु० १ अ० ६ गा० २६]

(१७१)

क्रोध, मान, माया और लोभ — ये चार अन्तरात्मा के भयंकर दोष हैं। इनका पूर्ण रूप से परित्याग करनेवाले अर्हन्त महर्षि न स्वयं पाप करते हैं और न दूसरों से करवाते हैं।

: १४ :

काम-सुत्तं

(१७२)

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
कामे य पत्थेमाणा, अकामा जन्ति दोग्गइं ॥१॥

—[उत्तरा० अ० ९ गा० ५३]

(१७३)

सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडम्बियं ।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥२॥

—[उत्तरा० अ० १३ गा० १६]

(१७४)

खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा,
पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥३॥

—[उत्तरा० अ० १४ गा० १३

(१७५)

जहा किंपागफलाण, परिणामो न सुंदरो ।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो ॥४॥

—[उत्तरा० अ० १९ गा० १७]

: १४ :

काम-सूत्र

(१७२)

काम-भोग शल्यरूप हैं, विषरूप हैं और विषधर सर्प के समान हैं। काम-भोगों की लालसा रखनेवाले प्राणी उन्हें प्राप्त किये बिना ही अतृप्त दशा में एक दिन दुर्गति को प्राप्त हो जाते हैं।

(१७३)

गीत सब विलापरूप हैं; नाट्य सब विडम्बनारूप हैं; आभरण सब भाररूप हैं। अधिक क्या, संसार के जो भी काम-भोग हैं, सब-के-सब दुःखावह हैं।

(१७४)

काम-भोग क्षणमात्र सुख देनेवाले हैं और चिरकाल तक दुःख देनेवाले। उनमें सुख बहुत थोड़ा है, अत्यधिक दुःख-ही-दुःख है। मोक्ष-सुख के वे भयंकर शत्रु हैं, अनर्थों की खान हैं।

(१७५)

जैसे किंपाक फलों का परिणाम अच्छा नहीं होता, उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम भी अच्छा नहीं होता।

(१७६)

जहा य किंपागफला मणोरमा,
रसेण वण्णेण य भुंजमाणा ।
ते खुड्डए जीविंय पच्चमाणा,
एओवमा कामगुणा विवागे ॥५॥

—[उत्तरा० अ० ३२ गा० २०]

(१७७)

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई ।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥६॥

—[उत्तरा० अ० २५ गा० ४१]

(१७८)

चीराजिणं नगिणिणं, जडी संघाडि मुंडिणं ।
एयाणि वि न तायन्ति, दुस्सीलं परियागयं ॥७॥

—[उत्तरा० अ० ५ गा० २१]

(१७९)

जे केइ सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे य सव्वसो ।
मणसा काय वक्केणं, सव्वे ते दुक्खसंभवा ॥८॥

—[उत्तरा० अ० ६ गा० ११]

(१८०)

अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ,
न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा ।

(१७६)

जैसे किंपाक फल रूप-रंग और रस की दृष्टि से शुरू में खाते समय तो बड़े अच्छे मालूम होते हैं, पर बाद में जीवन के नाशक हैं; वैसे ही कामभोग भी शुरू में तो बड़े मनोहर लगते हैं, पर विपाक-काल में सर्वनाश कर देते हैं।

(१७७)

जो मनुष्य भोगी है भोगासक्त है, वही कर्म-मल से लिप्त होता है; अभोगी लिप्त नहीं होता। भोगी संसार में परिभ्रमण किया करता है और अभोगी संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

(१७८)

मृगचर्म, नग्नत्व, जटा, संघाटिका (बौद्ध भिक्षुओं का सा उत्तरीय वस्त्र), और मुण्डन आदि कोई भी धर्मचिन्ह दुःशील भिक्षु की रक्षा नहीं कर सकते।

(१७९)

जो अविवेकी मनुष्य मन, वचन और काया से शरीर, वर्ण तथा रूप में आसक्त रहते हैं, वे सब अपने लिए दुःख उत्पन्न करते हैं।

(१८०)

काल बड़ी द्रुत गति से चला जा रहा है, जीवन की एक-एक करके सभी रात्रियाँ बीतती जा रही हैं, फलस्वरूप काम-भोग

उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति,
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥९॥
—[उत्तरा० अ० १३ गा० ३१]

(१८१)

अधुवं जीवियं नच्चा, सिद्धिमग्गं वियाणिया ।
विणिअट्टेज्ज भोगेसु, आउं परिमिअमप्पणो ॥१०॥
—[दश० अ० ८ गा० ३४]

(१८२)

पुरिसोरम पावकम्मुणा, पलियन्तं मणुयाण जीवियं ।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जन्ति नरा असंवुडा ॥११॥
—[सूत्र० श्रु० १ अ० २ उ० १ गा० १०]

(१८३)

संबुज्झह ! किं न बुज्झह ?
सम्बोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
नो हूवणमन्ति राइओ,
नो सुलभं पुणरवि जीवियं ॥१२॥
—[सूत्र श्रु० १ अ० २ उ० १ गा० १]

(१८४)

दुप्परिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।
अह सन्ति सुव्वया साहू, जे तरन्ति अतरं वणिया व ॥१३॥
—[उत्तरा० अ० ८ गा० ६]

चिरस्थायी नहीं है। भोग-विलास के साधनों से रहित पुरुष को भोग वैसे ही छोड़ देते हैं, जैसे क्षीणफल वृक्ष को पक्षी।

(१८१)

मानव-जीवन नश्वर है, उसमें भी अपनी आयु तो बहुत ही परिमित है, एकमात्र मोक्ष-मार्ग ही अविचल है, यह जानकर काम-भोगों से निवृत्त हो जाना चाहिए।

(१८२)

हे पुरुष ! मनुष्यों का जीवन अत्यन्त अल्प है क्षणभंगुर है, अतः शीघ्र ही पापकर्म से निवृत्त हो जा। संसार में आसक्त तथा काम-भोगों से मूर्च्छित असंयमी मनुष्य बार-बार मोह को प्राप्त होते रहते हैं।

(१८३)

समझो, इतना क्यों नहीं समझते ? परलोक में सम्यक् बोधि का प्राप्त होना बड़ा कठिन है। बीती हुई रात्रियाँ कभी लौटकर नहीं आतीं। मनुष्य-जीवन दोबारा पाना आसान नहीं।

(१८४)

काम-भोग बड़ी मुश्किल से छूटते हैं, अधीर पुरुष तो इन्हें सहसा छोड़ ही नहीं सकते। परन्तु जो महाव्रतों-जैसे सुन्दर व्रतों के पालन करनेवाले साधुपुरुष हैं, वे ही दुस्तर भोग-समुद्र को तैरकर पार होते हैं, जैसे व्यापारी वणिक समुद्र को।

: १५ :

असरण-सुत्तं

(१८५)

वित्तं पसवो न नाइओ, तं बाले सरणं ति मन्नई ।
एए मम तेसु वि अहं, नो ताणं सरणं न विज्जई ॥१॥

—[सूत्र० श्रु० १ अ० २ उ० ३ गा० १६]

(१८६)

जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जन्तुणो ॥२॥

—[उत्तरा० अ० १९ गा० १५]

(१८७)

इमं सरीर अणिच्चं, असुइं असुइसंभवं ।
असासयावासमिणं, दुक्खकेसाण भायणं ॥३॥

—[उत्तरा० अ० १९ गा० १२]

(१८८)

दाराणि सुया चेव, मित्ता य तह बन्धवा ।
जीवन्तमणुजीवन्ति, मयं नाणुवयन्ति य ॥४॥

—[उत्तरा० अ० १८ गा० १४]

: १५ :

अशरण-सूत्र

(१८५)

मूर्ख मनुष्य धन, पशु और जातिवालों को अपना शरण मानता है और समझता है कि 'ये मेरे हैं' और 'मैं उनका हूँ'। परन्तु इनमें से कोई भी आपत्तिकाल में त्राण तथा शरण देनेवाला नहीं।

(१८६)

जन्म का दुःख है, जरा (बुढ़ापा) का दुःख है, रोग और मरण का दुःख है। अहो ! संसार दुःखरूप ही है ! यही कारण है कि यहाँ प्रत्येक प्राणी जब देखो तब क्लेश ही पाता रहता है।

(१८७)

यह शरीर अनित्य है, अशुचि है, अशुचि से उत्पन्न हुआ है, दुःख और क्लेशों का धाम है। जीवात्मा का इसमें कुछ ही क्षणों के लिए निवास है, आखिर एक दिन तो अचानक छोड़कर चले ही जाना है।

(१८८)

स्त्री, पुत्र, मित्र और बन्धुजन सब कोई जीते जी के ही साथी हैं, मरने पर कोई भी पीछे नहीं आता।

(१८९)

वेया अहीया न भवन्ति ताणं,
मुत्ता दिया निन्ति तमं तमेण ।
जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं,
को नाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ॥५॥

—[उत्तरा० अ० १४ गा० १२]

(१९०)

चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च,
खेत्तं गिहं धण-धन्नं च सव्वं ।
कम्मप्पबीओ अवसो पयाइ,
परं भवं सुन्दरं पावगं वा ॥६॥

—[उत्तरा० अ० १३ गा० २४]

(१९१)

जहेह सीहो व मियं गहाय,
मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले ।
न तस्स माया व पिया व भाया,
कालम्मि तम्मंसहरा भवन्ति ॥७॥

—[उत्तरा० अ० १३ गा० २२]

(१९२)

जमिणं जगई पुढो जगा कम्मेहिं लुप्पन्ति पाणिणो ।
सयमेव कडेहिं गाहइ, नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं ॥८॥

—[सूत्र० श्रु० १ अ० २ उ० १ गा० ४]

(१८९)

पढ़े हुए वेद बचा नहीं सकते; जिमाये हुए ब्राह्मण अन्धकार से अन्धकार में ही ले जाते हैं, तथा पैदा किये हुए पुत्र भी रक्षा नहीं कर सकते, ऐसी दशा में कौन विवेकी पुरुष इन्हें स्वीकार करेगा ?

(१९०)

द्विपद (दास, दासी आदि मनुष्य), चतुष्पद (गाय, घोड़े आदि पशु), क्षेत्र, गृह और धन-धान्य सब कुछ छोड़कर विवशता की दशा में प्राणी अपने कृत कर्मों के साथ अच्छे या बुरे परभव में चला जाता है।

(१९१)

जिस तरह सिंह हिरण को पकड़कर ले जाता है, उसी तरह अंतसमय मृत्यु भी मनुष्य को उठा ले जाती है। उस समय माता-पिता, भाई आदि कोई भी उसके दुःख में भागीदार नहीं होते परलोक में उसके साथ नहीं जाते।

(१९२)

संसार में जितने भी प्राणी हैं, वे सब अपने कृत कर्मों के कारण ही दुखी होते हैं। अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म है, उसका फल भोगे बिना कभी छुटकारा नहीं हो सकता।

(१९३)

असासए सरीरम्मि, रइं नोवलभामहं ।
पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणबुब्बुयसंनिभे ॥९॥

—[उत्तरा० अ० १९ गा० १३]

(१९४)

माणुसत्ते असारम्मि, वाहि-रोगाण आलए ।
जरामरणघत्थम्मि, खणं पि न रमामहं ॥१०॥

—[उत्तरा० अ० १९ गा० १४]

(१९५)

जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपायचंचलं ।
जत्थ तं मुज्झसि रायं ! पेच्चत्थं नावबुज्झसि ॥११॥

—[उत्तरा० अ० १८ गा० १३]

(१९६)

न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ,
न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा ।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥१२॥

—[उत्तरा० अ० १३ गा० २३]

(१९७)

न चित्ता तायए भासा,
कुओ विज्जाणुसासणं ? ।
विसन्ना पावकम्मेहिं,
बाला पंडियमाणिणो ॥१३॥

—[उत्तरा० अ० ६ गा० १०]

(१९३)

यह शरीर पानी के बुलबुले के समान क्षणभंगुर है, पहले या पीछे एक दिन इसे छोड़ना ही है, अतः इसके प्रति मुझे तनिक भी प्रीति (आसक्ति) नहीं है।

(१९४)

मानव-शरीर असार है, आधि-व्याधियों का घर है, जरा और मरण से ग्रस्त है; अतः मैं इसकी ओर से क्षणभर भी प्रसन्न नहीं होता।

(१९५)

मनुष्य का जीवन और रूप-सौन्दर्य बिजली की चमक के समान चंचल है ! आश्चर्य है, हे राजन्, तुम इसपर मुग्ध हो रहे हो ! क्यों नहीं परलोक की ओर का खयाल करते हो ?

(१९६)

पापी जीव के दुःख को न जातिवाले बँटा सकते हैं, न मित्र-वर्ग, न पुत्र, और न भाई-बन्धु। जब कभी दुःख आकर पड़ता है, तब वह स्वयं अकेला ही उसे भोगता है। क्योंकि कर्म अपने कर्त्ता के ही पीछे लगते हैं, अन्य किसी के नहीं।

(१९७)

चित्र विचित्र भाषा आपत्तिकालमें त्राण करनेवाली नहीं, इसी प्रकार मंत्रात्मक भाषा का अनुशासन भी त्राण करनेवाला कैसे हो ? अतः भाषा और मान्त्रिक विद्या से त्राण पानेकी आशावाले पंडितमन्य-मूढ-जन पापकर्मों में मग्न हो रहे हैं।

: १६ :

बाल-सुत्तं

(१९८)

भोगामिसदोसविसन्ने, हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मन्दिए मूढे, बज्झइ मच्छिया व खेलम्मि ॥१॥

—[उत्तरा० अ० ८ गा० ५]

(१९९)

जे गिद्धे कामभोगेसु, एगे कूडाय गच्छई ।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई ॥२॥

—[उत्तरा० अ० ५ गा० ५]

(२००)

हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया ।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥३॥

(२०१)

जणेण सद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भइ ।
कामभोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जइ ॥४॥

: १६ :

बाल-सूत्र

(१९८)

जो बाल मूर्ख मनुष्य काम-भोगों के मोहक दोषों में आसक्त हैं, हित तथा निश्रेयस के विचार से शून्य हैं, वे मन्दबुद्धि मूढ़ संसार में वैसे ही फँस जाते हैं, जैसे मक्खी श्लेष्म (कफ) में।

(१९९)

जो मनुष्य काम-भोगों में आसक्त होते हैं, वे पाश में फंस कर बुरे-से-बुरे पाप-कर्म कर डालते हैं। ऐसे लोगों की मान्यता होती है कि "परलोक हमने देखा नहीं है, और यह विद्यमान काम-भोगों का आनन्द तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है।"

(२००)

"वर्तमान काल के, काम-भोग हाथ में आये हुए हैं पूर्णतया स्वाधीन हैं। भविष्यकाल में परलोक के सुखों का क्या ठिकाना मिलें या न मिलें? और यह भी कौन जानता है कि परलोक है भी या नहीं?"

(२०१)

"मैं तो सामान्य लोगों के साथ रहूँगा अर्थात् जैसी उनकी दशा होगी, वैसी मेरी भी हो जायगी" मूर्ख मनुष्य इस प्रकार धृष्टता-भरी बातें किया करते हैं और काम-भोगों की आसक्ति के कारण अन्त में महान् क्लेश पाते हैं।

(२०२)

तओ से दंडं समारभई, तसेसु थावरेसु य ।
अट्ठाए य अणट्ठाए, भूयगाम विहिंसई ॥५॥

(२०३)

हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे ।
भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेयं ति मन्नई ॥६॥

(२०४)

कायसा वयसा मत्तो, वित्तो गिद्धे य इत्थिसु ।
दुहओ मलं संचिणइ, सिसुनागु व्व मट्टियं ॥७॥

(२०५)

तओ पुट्ठो आयंकेणं, गिलाणो परितप्पइ ।
पभीओ परलोगस्स, कम्माणुप्पेही अप्पणो ॥८॥

—[उत्तरा० अ० ५ गा० ६-११]

(२०६)

जे केइ बाला इह जीवियट्ठी,
पावाइं कम्माइं करेन्ति रुद्दा ।
ते घोररूवे तमसिन्धयारे,
तिव्वाभितावे नरगे पडन्ति ॥९॥

—[सूत्र० श्रु० १ अ० ५ उ० १ गा० ३]

(२०२)

मूर्ख मनुष्य विषयासक्त होते ही त्रस तथा स्थावर जीवों को सताना शुरू कर देता है, और अन्ततक मतलब-बेमतलब प्राणि-समूह की हिंसा करता ही रहता है।

(२०३)

मूर्ख मनुष्य हिंसक, असत्य-भाषी, मायावी, चुगलखोर और धूर्त होता है। वह मांस तथा मद्य के खाने-पीने में ही अपना श्रेय समझता है।

(२०४)

जो मनुष्य शरीर तथा वचन के बल पर मदान्ध है, धन तथा स्त्री जन में आसक्त है, वह राग और द्वेष दोनों के द्वारा वैसे ही कर्म का संचय करता है, जैसे अलसिया मिट्टी का।

(२०५)

पाप-कर्मों के फलस्वरूप जब मनुष्य अन्तिम समय में असाध्य रोगों से पीड़ित होता है, तब वह खिन्नचित्त होकर अन्दर-ही-अन्दर पछताता है, और अपने पूर्वकृत पाप-कर्मों को याद कर-कर के पर-लोक की विभीषिका से काँप उठता है।

(२०६)

जो मूर्ख मनुष्य अपने तुच्छ जीवन के लिए निर्दय होकर पाप-कर्म करते हैं, वे महाभयंकर प्रगाढ़ अन्धकाराच्छन्न एवं तीव्र तापवाले तमिस्र नरक में जाकर पड़ते हैं।

(२०७)

जया य चयइ धम्मं, अणज्जो भोगकारणा ।
से तत्थ मुच्छिए बाले, आयइं नावबुज्झई ॥१०॥

—[दश० चूलिका गा० १]

(२०८)

निच्चुव्विग्गो जहा तेणो, अत्तकम्मेहिँ दुम्मई ।
तारिसो मरणंऽन्ते वि, नाऽऽराहेइ संवरं ॥११॥

—[दश० अ० ५ उ० २ गा० ३९]

(२०९)

जे केइ पव्वइए, निद्दासीले पगामसो ।
भोच्चा पिच्चा सुहं सुवइ, पावसमणि त्ति वुच्चइ॥१२॥

—[उत्तरा० अ० १० गा० ३]

(२१०)

वेराइं कुव्वइ वेरी, तओ वेरेहिँ रज्जइ ।
पावोवगा य आरंभा, दुक्खफासा य अन्तसो ॥१३॥

—[सूत्र० श्रु० १ अ० ८ गा० ७]

(२११)

मासे मासे तु जो बाले, कुसग्गेणं तु भुंजए ।
न सो सुयक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥१४॥

—[उत्तरा० अ० ९ गा० ४४]

(२०७)

अनार्य मनुष्य काम-भोगों के लिए जब धर्म को छोड़ता है, तब वह भोग-विलास में मूर्च्छित रहनेवाला मूर्ख अपने भयंकर भविष्य को नहीं जानता।

(२०८)

जिस तरह हमेशा भयभ्रान्त रहनेवाला चोर अपने ही दुष्कर्मों के कारण दुःख उठाता है, उसी तरह मूर्ख मनुष्य भी अपने दुराचरणों के कारण दुःख पाता है, और वह अंतकाल में भी संवर धर्म की आराधना नहीं कर सकता।

(२०९)

जो भिक्षु प्रव्रज्या लेकर भी अत्यन्त निद्राशील हो जाता है, खा-पीकर मज़े से सो जाया करता है, वह 'पाप-श्रमण' कहलाता है।

(२१०)

वैर रखनेवाला मनुष्य हमेशा वैर ही किया करता है, वह वैर में ही आनन्द पाता है। हिंसाकर्म पाप को उत्पन्न करनेवाले हैं, अन्त में दुःख पहुँचानेवाले है।

(२११)

यदि अज्ञानी मनुष्य महीने-महीनेभर का घोर तप करे और पारण के दिन केवल कुशा की नोक से भोजन करे, तो भी वह सत्पुरुषों के बताये धर्म का आचरण करनेवाले मनुष्य के सोलहवें हिस्से को भी नहीं पहुँच सकता।

(२१२)

इह जीवियं अनियमित्ता, पब्भट्ठा समाहि-जोगेहिं ।
ते कामभोगरसगिद्धा, उववज्जन्ति आसुरे काये ॥१५॥

—[उत्तरा० अ० ८ गा० १४]

(२१३)

जावन्तऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा ।
लुप्पन्ति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणन्तए ॥१६॥

—[उत्तरा० अ० ६ गा० १]

(२१४)

बालाणं अकामं तु मरणं असइं भवे ।
पण्डियाणं सकामं तु, उक्कोसेण सइं भवे ॥१७॥

—[उत्तरा० अ० ५ गा० ३]

(२१५)

बालस्स पस्स बालत्तं, अहम्मं पडिवज्जिया ।
चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे, नरए उववज्जइ ॥१८॥

—[उत्तरा० अ० ७ गा० २८]

(२१६)

धीरस्स पस्स-धीरत्तं, सच्चधम्माणुवत्तिणो ।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जइ ॥१९॥

(२१२)

जो मनुष्य अपने जीवन को अनियंत्रित (उच्छृंखल) रखने के कारण यहाँ समाधि-योग से भ्रष्ट हो जाते हैं, वे काम-भोगों में आसक्त होकर अन्त में असुरयोनि में उत्पन्न होते हैं।

(२१३)

संसार में जितने भी अविद्वान् (मूर्ख) पुरुष है, वे सब दुःख भोगनेवाले हैं। मूढ प्राणी अनन्त संसार में बार बार लुप्त होते रहते हैं--जन्मते और मरते रहते हैं।

(२१४)

मूर्ख जीवों का अकाम मरण संसार में बार-बार हुआ करता है; परन्तु पंडित पुरुषों का सकाम मरण केवल एक बार ही होता है वे पुनर्जन्म नहीं पाते।

(२१५)

मूर्ख मनुष्य की मूर्खता तो देखो, जो धर्म छोड़कर, अधर्म को स्वीकार कर अधर्मिष्ठ हो जाता है, और अन्त में नरक-गति को प्राप्त होता है।

(२१६)

सत्य-धर्म के अनुगामी धीर पुरुष की धीरता देखो, जो अधर्म का परित्याग कर धर्मिष्ठ हो जाता है, और अन्त में देव-लोक में उत्पन्न होता है।

(२१७)

तुलियाण बालभावं, अबालं चेव पण्डिए ।
चइऊण बालभावं, अबालं सेवई मुणी ॥२०॥

—[उत्तरा० अ० ७ गा० २९-३०]

(२१७)

विद्वान्, मुनि, बाल-भाव और अबाल-भाव का इस प्रकार तुलनात्मक विचार कर बाल-भाव को छोड़ दे, और अबाल-भाव को ही स्वीकार करे।

: १७ :

पंडिय-सुत्तं

(२१८)

समिक्ख पंडिए तम्हा, पासजाइपहे बहू ।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्तिं भूएसु कप्पए ॥ १ ॥

—[उत्तरा० अ० ६ गा० २]

(२१९)

जे य कंते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठीकुव्वई ।
साहीणे चयई भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चई ॥ २ ॥

—[दश० अ० २ गा० ३]

(२२०)

वत्थगन्धमलंकारं, इत्थिओ सयणाणि य ।
अच्छन्दा जे न भुंजन्ति, न से चाइ त्ति वुच्चई ॥ ३ ॥

—[दश० अ० २ गा० २]

(२२१)

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे,
ते अत्तओ पासइ सव्वलोए ।
उव्वेहई लोगमिणं महन्तं,
बुद्धो पमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥ ४ ॥

—[सूत्र० श्रु० १ अ० १२ गा० १८]

: १७ :

पण्डित-सूत्र

(२१८)

पण्डित पुरुष को चाहिए कि वह संसार-भ्रमण के कारणरूप दुष्कर्म-पाशों का भली भाँति विचार कर अपने-आप स्वतन्त्ररूप से सत्य की खोज करे, और सब जीवों पर मैत्रीभाव रखे।

(२१९)

जो मनुष्य सुन्दर और प्रिय भोगों को पाकर भी पीठ फेर लेता है, सब प्रकार से स्वाधीन भोगों का परित्याग कर देता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है।

(२२०)

जो मनुष्य किसी परतंत्रता के कारण वस्त्र, गन्ध, अलंकार, स्त्री और शयन आदि का उपभोग नहीं कर पाता, वह सच्चा त्यागी नहीं कहलाता।

(२२१)

जो बुद्धिमान मनुष्य मोहनिद्रा में सोते रहनेवाले मनुष्यों के बीच रहकर संसार के छोटे-बड़े सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के समान देखे, इस महान् विश्व का निरीक्षण करे सर्वदा अप्रमत्त भाव से संयमाचरण में रत रहे वही मोक्षगति का सच्चा अधिकारी है।

(२२२)

जे ममाइअमइं जहाइ, से जहाइ ममाइअं ।
से हु दिट्ठभए मुणी, जस्स नत्थि ममाइअं ॥५॥

—[आचा० १ श्रु० अ० २ उ० ६ सू० ९९]

(२२३)

जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे ।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥६॥

—[सूत्र० श्रु० १ अ० ८ गा० १६]

(२२४)

जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए ।
तस्स वि संजमो सेयो अदिन्तस्स वि किंचण ॥७॥

—[उत्तरा० अ० ९ गा० ४०]

(२२५)

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए ।
रागस्स दोसस्स य संखएणं,
एगन्तसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥८॥

(२२६)

तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा,
विवज्जणा बालजणस्स दूरा ।
सज्झायएगन्तनिसेवणा य,
सुत्तत्थसंचिन्तणया धिई य ॥९॥

(२२२)

जो ममत्व-बुद्धि का परित्याग करता है, वह ममत्व का परित्याग करता है। वास्तव में वही संसार से सच्चा भय खानेवाला मुनि है, जिसे किसी भी प्रकार का ममत्व-भाव नहीं है।

(२२३)

जैसे कछुआ आपत्ति से बचने के लिये अपने अंगों को अपने शरीर में सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार पंडितजन भी विषयों की ओर जाती हुई अपनी इन्द्रियों को आध्यात्मिक ज्ञान से सिकोड़कर रखें।

(२२४)

जो मनुष्य प्रतिमास लाखों गायें दान में देता है, उसकी अपेक्षा कुछ भी न देनेवाले का संयमाचरण श्रेष्ठ है।

(२२५)

सब प्रकार के ज्ञान को निर्मल करने से, अज्ञान और मोह के त्यागने से, तथा राग और द्वेष का क्षय करने से एकांत सुख-स्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है।

(२२६)

सद्गुरु तथा अनुभवी वृद्धों की सेवा करना, मूर्खों के संसर्ग से दूर रहना, एकाग्र चित्त सत् शास्त्रों का अभ्यास करना और उनके गम्भीर अर्थ का चिन्तन करना, और चित्त में धृतिरूप अटल शान्ति प्राप्त करना, यह निश्रेयस का मार्ग है।

(२२७)

आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं,
सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं ।
निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं,
समाहिकामे समणे तवस्सी ॥१०॥

(२२८)

न वा लभेज्जा निउणं सहायं,
गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।
एक्को वि पावाइ विवज्जयन्तो,
विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥११॥
—[उत्तरा० अ० ३२ गा० ३-५]

(२२९)

जाइं च वुड्ढिं च इहऽज्ज पास,
भूएहिं सायं पडिलेह जाणे ।
तम्हाऽइविज्जो परमं ति नच्चा,
सम्मत्तदंसी न करेइ पावं ॥१२॥
—[आचा० श्रु० १ अ० ३ उ० २ गा० १]

(२३०)

न कम्मुणा कम्म खवेन्ति बाला,
अकम्मुणा कम्म खवेन्ति धीरा ।
मेहाविणो लोभमया वईया,
संतोसिणो न पकरेन्ति पावं ॥१३॥
—[सूत्र० श्रु० १ अ० १२ गा० १५]

(२२७)

समाधि की इच्छा रखनेवाला तपस्वी श्रमण परिमित तथा शुद्ध आहार ग्रहण करे, निपुण बुद्धिवाले तत्त्वज्ञानी साथी की खोज करे, और ध्यान करने योग्य एकान्त स्थान में निवास करे।

(२२८)

यदि अपने से गुणों में अधिक या समान गुणवाला साथी न मिले, तो पापकर्मों का परित्याग कर तथा काम भोगों में सर्वथा अनासक्त रहकर अकेला ही विचरे। परन्तु दुराचारी का कभी भूलकर भी संग न करे।

(२२९)

संसार में जन्म-मरण के महान् दुःखों को देखकर और यह अच्छी तरह जानकर कि 'सब जीव सुख की इच्छा रखनेवाले हैं' अहिंसा को मोक्ष का मार्ग समझकर सम्यक्त्वधारी विद्वान् कभी भी पाप कर्म नहीं करते।

(२३०)

मूर्ख साधक कितना ही प्रयत्न क्यों न करें, किन्तु पाप-कर्मों से पाप-कर्मों को कदापि नष्ट नहीं कर सकते। बुद्धिमान् साधक वे हैं जो पाप-कर्मों के परित्याग से पाप-कर्मों को नष्ट करते हैं। अतएव लोभ और भय से रहित सर्वदा सन्तुष्ट रहनेवाले मेधावी पुरुष किसी भी प्रकार का पापकर्म नहीं करते।

: १८ :

अप्प-सुत्तं

(२३१)

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दनं वण ॥१॥

–[उत्तरा० अ० २० गा० ३६]

(२३२)

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ ॥२॥

–[उत्तरा० अ० २० गा० ३७]

(२३३)

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥३॥

–[उत्तरा० अ० १ गा० १५]

(२३४)

वरं मे अप्पा दन्तो, संजमेण तवेण य ।
माऽहं परेहिं दम्मन्तो, बन्धणेहिं वहेहि य ॥४॥

–[उत्तरा० अ० १ गा० १६]

: १८ :

आत्म सूत्र

(२३१)

अपनी आत्मा ही नरक की वैतरणी नदी तथा कूट शाल्मली वृक्ष है। अपनी आत्मा ही स्वर्ग की कामदुघा धेनु तथा नन्दनवन है।

(२३२)

आत्मा ही अपने दुःखों और सुखों का कर्त्ता तथा भोक्ता है। अच्छे मार्ग पर चलनेवाला आत्मा अपना मित्र है, और बुरे मार्ग पर चलनेवाला आत्मा अपना शत्रु है।

(२३३)

अपने-आपको ही दमन करना चाहिए। वास्तव में अपने-आपको दमन करना ही कठिन है। अपने-आपको दमन करनेवाला इस लोक में तथा परलोक में सुखी होता है।

(२३४)

दूसरे लोग मेरा वध बन्धनादि से दमन करें, इसकी अपेक्षा तो मैं संयम और तप के द्वारा अपने-आप ही अपना (आत्मा का) दमन करूँ, यह अच्छा है।

(२३५)

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥५॥

-[उत्तरा० अ० ९ गा० ३४]

(२३६)

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ ? ।
अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥६॥

(२३७)

पंचिन्दियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोहं च ।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं ॥७॥

-[उत्तरा० अ० ९ गा० ३५-३६]

(२३८)

न तं अरी कंठ-छेत्ता करेइ,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।
से नाहिइ मच्चुमुहं तु पत्ते,
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥८॥

-[उत्तरा अ० २० गा० ४८]

(२३९)

जस्सेवमप्पा उ हवेज्ज निच्छिओ,
चएज्ज देहं न हु धम्मसासणं ।

(२३५)

जो वीर दुर्जय संग्राम में लाखों योद्धाओं को जीतता है, यदि वह एकमात्र अपनी आत्मा को जीत ले, तो यह उसकी सर्वश्रेष्ठ विजय है।

(२३६)

अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करना चाहिए, बाहरी स्थूल शत्रुओं के साथ युद्ध करने से क्या लाभ? आत्मा के द्वारा आत्मा को जीतनेवाला ही वास्तव में पूर्ण सुखी होता है।

(२३७)

पाँच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा सबसे अधिक दुर्जय अपनी आत्मा को जीतना चाहिए। एक आत्मा के जीत लेने पर सब कुछ जीत लिया जाता है।

(२३८)

सिर काटनेवाला शत्रु भी उतना अपकार नहीं करता, जितना कि दुराचरण में लगी हुई अपनी आत्मा करती है। दयाशून्य दुराचारी को अपने दुराचरणों का पहले ध्यान नहीं आता; परन्तु जब वह मृत्यु के मुख मे पहुँचता है, तब अपने सब दुराचरणों को याद कर-कर पछताता है।

(२३९)

जिस साधक की आत्मा इस प्रकार दृढ़निश्चयी हो कि 'मैं शरीर छोड़ सकता हूँ, परन्तु अपना धर्म-शासन नहीं छोड़ सकता;'

तं तारिसं नो पयलेन्ति इन्दिया,
उवेन्ति वाया व सुदंसणं गिरिं ॥९॥
—[दश० चूलिका १ गा० ११]

(२४०)

अप्पा हु खलु सययं रक्खियव्वो,
सव्विन्दिएहिं सुसमाहिएहिं ।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ,
सुरक्खिओ सव्वदुक्खाण मुच्चइ ॥१०॥
—[दश० चूलिका २ गा० १६]

(२४१)

सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरन्ति महेसिणो ॥११॥
—[उत्तरा० अ० २३ गा० ७३]

(२४२)

जो पव्वइत्ताण महव्वयाइं,
सम्मं च नो फासयई पमाया ।
अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे,
न मूलओ छिन्दइ बन्धणं से ॥१२॥
—[उत्तरा० अ० २० गा० ३९]

उसे इन्द्रियाँ कभी विचलित नहीं कर सकतीं, जैसे भीषण बवंडर सुमेरु पर्वत को।

(२४०)

समस्त इन्द्रियों को खूब अच्छी तरह समाहित करते हुए पापों से अपनी आत्मा की निरंतर रक्षा करते रहना चाहिए। पापों से अरक्षित आत्मा संसार में भटका करती है, और सुरक्षित आत्मा संसार के सब दुःखों से मुक्त हो जाती है।

(२४१)

शरीर को नाव कहा है, जीव को नाविक कहा जाता है, और संसार को समुद्र बतलाया है। इसी संसार-समुद्र को महर्षिजन पार करते हैं।

(२४२)

जो प्रव्रजित होकर प्रमाद के कारण पाँच महाव्रतों का अच्छी तरह पालन नहीं करता, अपने-आपको निग्रह में नहीं रखता, काम-भोगों के रस में आसक्त हो जाता है, वह जन्म-मरण के बन्धन को जड़ से नहीं काट सकता।

: १९ :

लोगतत्त-सुत्तं

(२४३)

धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गल जंतवो ।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥१॥

–[उत्तरा॰ अ॰ २८ गा॰ ७]

(२४४)

गइलक्खणो धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो ।
भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं ॥२॥

(२४५)

वत्तनालक्खणो कालो, जीवो उवओगलक्खणो ।
नाणेणं दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य ॥३॥

(२४६)

नाणं च दंसणं चेव, चरितं च तवो तहा ।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ॥४॥

(२४७)

सद्दऽन्धयार-उज्जोओ, पहा छायाऽऽतवे इ वा ।
वण्ण-रस-गन्ध-फासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥५॥

[उत्तरा॰ अ॰ २८ गा॰ ९-१२]

: १९ :

लोकतत्त्व-सूत्र

(२४३)

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव ये छः द्रव्य हैं। केवलदर्शन के धर्त्ता जिन भगवानों ने इन सबको लोक कहा है।

(२४४)

धर्मद्रव्य का लक्षण गति है, अधर्मद्रव्य का लक्षण स्थिति है; सब पदार्थों को अवकाश देना आकाश का लक्षण है।

(२४५)

काल का लक्षण वर्तना है, और उपयोग जीव का लक्षण है। जीवात्मा ज्ञान से, दर्शन से, सुख से, तथा दुख से जाना-पहचाना जाता है।

(२४६)

अतएव ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप, वीर्य और उपयोग ये सब जीव के लक्षण हैं।

(२४७)

शब्द, अन्धकार, उजाला, प्रभा, छाया, आतप (धूप), वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श ये सब पुद्गल के लक्षण हैं।

(२४८)

जीवाऽजीवा य बन्धो य पुण्णं पावाऽसवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, सन्तेए तहिया नव ॥६॥

(२४९)

तहियाणं तु भावाण, सब्भावे उवएसणं ।
भावेणं सद्दहन्तस्स, सम्मत्तं त वियाहिय ॥७॥

--[उत्तरा० अ० २८ गा० १४-१५]

(२५०)

नाणेण जाइण भावेण, दंसणेणं य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ ॥८॥

--[उत्तरा० अ० २८ गा० ३५]

(२५१)

नाण च दंसणं चेव, चरित्त च तवो तहा ।
एय मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सुग्गइं ॥९॥

[उत्तरा० अ० २८ गा० ३]

(२५२)

तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिनिबोहियं ।
ओहिनाण तु तइय, मणनाण च केवलं ॥१०॥

--[उत्तरा० अ० २८ गा० ४]

(२५३-२५४)

नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्म तहेव य ॥११॥
नामकम्म च गोत्त च, अन्तरायं तहेव य ।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥१२॥

--[उत्तरा० अ० ३३ गा० २-३]

(२४८)

जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये नव सत्य-तत्त्व हैं।

(२४९)

जीवादिक सत्य पदार्थों के अस्तित्व के विषय में सद्गुरु के उपदेश से, अथवा स्वयं ही अपने भाव से श्रद्धान करना, सम्यक्त्व कहा गया है।

(२५०)

मुमुक्षु आत्मा ज्ञान से जीवादिक पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धान करता है, चारित्र्य से भोग-वासनाओं का निग्रह करता है, और तप से कर्ममलरहित होकर पूर्णतया शुद्ध हो जाता है।

(२५१)

ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप इस चतुष्टय अध्यात्ममार्ग को प्राप्त होकर मुमुक्षु जीव मोक्षरूप सद्गति को पाते हैं।

(२५२)

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल- इस भाँति ज्ञान पाँच प्रकार का है।

(२५३-२५४)

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—इस प्रकार संक्षेप में ये आठ कर्म बतलाये हैं।

(२५५)

सो तवो दुविहो वुत्तो बाहिरब्भन्तरो तहा ।
बाहिरो छब्विहो वुत्तो, एवमब्भन्तरो तवो ॥१३॥

(२५६)

अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य, बज्झो तवो होइ ॥१४॥

—[उत्तरा० अ० ३० गा० ७-८]

(२५७)

पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्च तहेव सज्झाओ ।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भिन्तरो तवो ॥१५॥

—[उत्तरा० अ० ३० गा० ३०]

(२५८)

किण्हा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य ।
सुक्कलेसा य छट्ठा, नामाइं तु जहक्कमं ॥१६॥

—[उत्तरा० अ० ३४ गा० ३]

(२५९)

किण्हा नीला काऊ, तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइं उववज्जइ ॥१७॥

(२६०)

तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइं उववज्जइ ॥१८॥

—[उत्तरा० अ० ३४ गा० ५६-५७]

(२५५)

तप दो प्रकार का बतलाया है—बाह्य और अभ्यंतर। बाह्य तप छः प्रकार का कहा है, इसी प्रकार अभ्यन्तर तप भी छः ही प्रकार का है।

(२५६)

– अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, काय-क्लेश और सल्लेखना—ये बाह्य तप हैं।

(२५७)

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग ये अभ्यन्तर तप हैं।

(२५८)

कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म, और शुक्ल ये लेश्याओं के क्रमशः छः नाम हैं।

(२५९)

कृष्ण, नील, कापोत ये तीन अधर्म-लेश्याएँ हैं। इन तीनों से युक्त जीव दुर्गति में उत्पन्न होता है।

(२६०)

तेज, पद्म और शुक्ल ये तीन धर्म-लेश्याएँ हैं। इन तीनों से युक्त जीव सद्गति में उत्पन्न होता है।

(२६१)

अट्ठ पवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य।
पंचेव य समिईओ, तओ गुत्तीओ आहिया ॥१९॥

(२६२)

इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिई इय।
मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्ठमा ॥२०॥

—[उत्तरा० अ० २४ गा० १-२]

(२६३)

एयाओ पंच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ॥२१॥

(२६४)

एसा पवयणमाया, जे सम्मं आयरे मुणी।
से खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पण्डिए ॥२२॥

—[उत्तरा० अ० २४ गा० २६-२७]

(२६१)

पाँच समिति और तीन गुप्ति इस प्रकार आठ प्रवचन-माताएँ कहलाती हैं।

(२६२)

ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उच्चार ये पाँच समितियाँ हैं। तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीन गुप्तियाँ हैं। इस प्रकार दोनों मिलकर आठ प्रवचन-माताएँ हैं।

(२६३)

पाँच समितियाँ चारित्र की दया आदि प्रवृत्तियों में काम आती हैं और तीन गुप्तियाँ सब प्रकार के अशुभ व्यापारों से निवृत्त होने में सहायक होती हैं।

(२६४)

जो विद्वान् मुनि उक्त आठ प्रवचन-माताओं का अच्छी तरह आचरण करता है, वह शीघ्र ही अखिल संसार से सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

पुज्ज-सुत्तं

(२६५)

आयारमट्ठा विणयं पउंजे,
सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं ।
जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो,
गुरुं तु नासाययई स पुज्जो ॥१॥

(२६६)

अन्नायउंछं चरइ विसुद्धं,
जवणट्ठया समुयाणं च निच्चं ।
अलद्धुयं नो परिदेवएज्जा,
लद्धुं न विकत्थई स पुज्जो ॥२॥

(२६७)

संथारसेज्जासणभत्तपाणे,
अप्पिच्छया अइलाभे वि सन्ते ।
जो एवमप्पाणऽभितोसएज्जा,
संतोसपाहन्नरए स पुज्जो ॥३॥

: २० :

पूज्य-सूत्र

(२६५)

जो आचार-प्राप्ति के लिए विनय का प्रयोग करता है, जो भक्तिपूर्वक गुरु-वचनों को सुनों एवं स्वीकृत कर कहने के अनुसार कार्य को पूरा करता है, जो गुरु की कभी अशातना नहीं करता वही पूज्य है।

(२६६)

जो केवल संयम-यात्रा के निर्वाह के लिए अपरिचितभाव से दोष-रहित भिक्षावृत्ति करता है, जो आहार आदि न मिलने पर कभी खिन्न नहीं होता और मिल जाने पर कभी प्रसन्न नहीं होता वही पूज्य है।

(२६७)

जो संस्तारक, शय्या, आसन और भोजन-पान आदि का अधिक लाभ होने पर भी अपनी आवश्यकता के अनुसार थोड़ा ग्रहण करता है, सन्तोष की प्रधानता में रत होकर अपने-आपको सदा संतुष्ट बनाये रखता है, वही पूज्य है।

(२६८)

सक्का सहेउं आसाइ कंटया,
अओमया उच्छहया नरेण ।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए,
वईमए कण्णसरे स पुज्जो ॥४॥

(२६९)

समावयन्ता वयणाभिघाया,
कण्णं गया दुम्मणियं जणन्ति ।
धम्मो त्ति किच्चा परमग्गसूरे,
जिइन्दिए जो सहइ स पुज्जो ॥५॥

(२७०)

अवण्णवायं च परंमुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं ।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च,
भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो ॥६॥

(२७१)

अलोलुए अक्कुहए अमाई,
अपिसुणे या वि अदीणवित्ती ।

(२६८)

ससार मे लोभी मनुष्य के द्वारा किसी विशेष आशा की पूर्ति के लिए लोह-कटक भी सहन कर लिये जाते हैं, परन्तु जो बिना किसी आशा-तृष्णा के कानों में तीर के समान चुभनेवाले दुर्वचन-रूपी कंटकों को सहन करता है, वही पूज्य है।

(२६९)

विरोधियों की ओर से पडनेवाली दुर्वचन की चोटें कानों मे पहुँचकर बडी मर्मान्तक पीडा पैदा करती हैं; परन्तु जो क्षमाशूर जितेन्द्रिय पुरुष उन चोटों को अपना धर्म जानकर समभाव से सहन कर लेता है, वही पूज्य है।

(२७०)

जो परोक्ष में किसीकी निन्दा नहीं करता, प्रत्यक्ष में भी कलह-वर्धक अंट-सट बातें नहीं बकता, दूसरों को पीडा पहुँचानेवाली एव निश्चयकारी भाषा भी कभी नहीं बोलता, वही पूज्य है।

(२७१)

जो रसलोलुप नहीं है, इन्द्रजाली [जादू-टोना करनेवाला] नहीं है, मायावी नहीं है, चुगलखोर नहीं है, दीन नहीं है, दूसरों से अपनी प्रशंसा सुनने की इच्छा नहीं रखता, स्वयं भी अपने मुँह से

नो भावए नो वि य भावियप्पा,
अकोउहल्ले य सया स पुज्जो ॥७॥

(२७२)

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू,
गिण्हाहि साहू गुण मुञ्चऽसाहू ।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं,
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥८॥

(२७३)

तहेव डहरं च महल्लगं वा,
इत्थी पुमं पव्वइयं गिहिं वा ।
नो हीलए नो वि य खिंसएज्जा,
थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥९॥

(२७४)

तेसिं गुरूणं गुणसायराणं,
सोच्चाण मेहावी सुभासियाइं ।
चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो,
चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥१०॥

—[दश० अ० ९ उ० ३ गा० २-४-५-६-८-९-
१०-११-१२-१४]

अपनी प्रशंसा नहीं करता, खेल तमाशा आदि देखने का भी शौकीन नहीं, वही पूज्य है।

(२७२)

गुणों से साधु होता है और अगुणों से असाधु, अतः हे मुमुक्षु! सद्गुणों को ग्रहण कर और दुर्गुणों को छोड़। जो साधक अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचानकर राग और द्वेष दोनों में समभाव रखता है, वही पूज्य है।

(२७३)

जो बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, साधु, और गृहस्थ आदि किसी का भी अपमान तथा तिरस्कार नहीं करता, जो क्रोध और अभिमान को पूर्णरूप से परित्याग करता है, वही पूज्य है।

(२७४)

जो बुद्धिमान मुनि सद्गुण-सिन्धु गुरुजनों के सुभाषितों को सुनकर तदनुसार पाँच महाव्रतों में रत होता है, तीन गुप्तियाँ धारण करता है, और चार कषायों से दूर रहता है, वही पूज्य है।

: २१ :

माहण-सुत्तं

(२७५)

जो न सज्जइ आगन्तुं, पव्वयन्तो न सोयई ।
रमइ अज्जवयणम्मि, तं वयं बूम माहणं ॥१॥

(२७६)

जायरूवं जहामट्ठं, निद्धन्तमल-पावगं ।
राग-दोस-भयाईयं, तं वयं बूम माहणं ॥२॥

(२७७)

तवस्सियं किसं दन्तं, अवचियमंससोणियं ।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ॥३॥

(२७८)

तसपाणे वियाणित्ता, संगहेण य थावरे ।
जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं बूम माहणं ॥४॥

: २१ :

ब्राह्मण-सूत्र

(२७५)

जो आनेवाले स्नेही जनों मे आसक्ति नहीं रखता, जो जाता हुआ शोक नहीं करता, जो आर्य-वचनों में सदा आनन्द पाता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२७६)

जो अग्नि में डालकर शुद्ध किये हुए और कसौटी पर कसे हुए सोने के समान निर्मल है, जो राग, द्वेष तथा भय से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२७७)

जो तपस्वी है, जो दुबला-पतला है, जो इद्रिय-निग्रही है, उग्र तपःसाधना के कारण जिसका रक्त और मास भी सूख गया है, जो शुद्धव्रती है, जिसने निर्वाण (आत्म-शान्ति) पा लिया है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२७८)

जो स्थावर, जंगम सभी प्राणियों को भलीभाँति जानकर, उनकी तीनों ही प्रकार[1] से कभी हिंसा नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण

[1] मन, वाणी और शरीर से; अथवा करने, कराने और अनुमोदन से।

(२७९)

कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया ।
मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं ॥५॥

(२८०)

चित्तमन्तमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं ।
न गिण्हाइ अदत्तं जे, तं वयं बूम माहणं ॥६॥

(२८१)

दिव्व-माणुस-तेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुणं ।
मणसा काय-वक्केणं, तं वयं बूम माहणं ॥७॥

(२८२)

जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥८॥

(२८३)

अलोलुयं मुहाजीविं, अणगारं अकिंचणं ।
असंसत्तं गिहत्थेसु, तं वयं बूम माहणं ॥९॥

कहते हैं।

(२७९)

जो क्रोध से, हास्य से, लोभ अथवा भय से किसी भी मलिन संकल्प से असत्य नहीं बोलता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२८०)

जो सचित्त या अचित्त कोई भी पदार्थ भले ही फिर वह थोड़ा हो या ज्यादा, मालिक के सहर्ष दिए बिना चोरी नहीं लेता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२८१)

जो देवता, मनुष्य तथा तिर्यञ्च सम्बन्धी सभी प्रकार के मैथुन का मन, वाणी और शरीर से कभी सेवन नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२८२)

जिस प्रकार कमल जल में उत्पन्न होकर भी जल से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार जो संसार में रहकर भी काम-भोगों से सर्वथा अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२८३)

जो अलोलुप है, जो अनासक्त-जीवी है, जो अनगार (बिना घरबार का) है, जो अकिंचन है, जो गृहस्थों से अलिप्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२८४)

जहित्ता पुव्व संजोगं, नाइसंगे य बन्धवे ।
जो न सज्जइ भोगेसु, तं वयं बूम माहणं ॥१०॥

(२८५)

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो ।
न मुणी रण्णवासेण, कुसचीरेण ण तावसो ॥११॥

(२८६)

समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो ।
नाणेण मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥१२॥

(२८७)

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥१३॥

(२८८)

एवं गुणसमाउत्ता, जे भवन्ति दिउत्तमा ।
ते समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य ॥१४॥

—[उत्तरा० अ० २५ गा० २०-२१-२२-२३-२४-२५-२६-२७-२८-२९-३१-३२-३३-३५]

(२८४)

जो स्त्री-पुत्र आदि के स्नेह पैदा करनेवाले पूर्व सम्बन्धों को, जाति-बिरादरी के मेल-जोल को तथा बन्धु-जनों को एक बार त्याग देने के बाद फिर उनमें किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रखता, दोबारा काम-भोगों में नहीं फँसता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२८५)

सिर मूँडा लेने मात्र से कोई श्रमण नहीं होता, 'ओम्' का जाप कर लेने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता, निर्जन वन मे रहने मात्र से कोई मुनि नहीं होता, और न कुशा के बने वस्त्र पहन लेने मात्र से कोई तपस्वी ही हो सकता है।

(२८६)

समता से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है, ज्ञान से मुनि होता है, और तप से तपस्वी बना जाता है।

(२८७)

मनुष्य कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है, कर्म से ही वैश्य होता है, और शूद्र भी अपने कृत कर्मों से ही होता है। (अर्थात् वर्ण-भेद जन्म से नहीं होता। जो जैसा अच्छा या बुरा कार्य करता है, वह वैसा ही ऊँच नीच हो जाता है।)

(२८८)

इस भाँति पवित्र गुणों से युक्त जो द्विजोत्तम [श्रेष्ठ ब्राह्मण] हैं, वास्तव में वे ही अपना तथा दूसरों का उद्धार कर सकने में समर्थ हैं

: २२ :

भिक्खु-सुत्तं

(२८९)

रोइअ नायपुत्त-वयणे,
अप्पसमे मन्नेज्ज छ प्पि काए ।
पंच य फासे महव्वयाइं,
पंचासवसंवरे जे स भिक्खू ॥१॥

(२९०)

चत्तारि वमे सया कसाए,
धुवजोगी य हविज्ज बुद्धवयणे ।
अहणे निज्जायरूव-रयए,
गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ॥२॥

(२९१)

सम्मदिट्ठी सया अमूढे,
अत्थि हु नाणे तव-संजमे य ।
तवसा धुणइ पुराण पावगं,
मण-वय कायसुसंवुडे जे स भिक्खू ॥३॥

: २२ :

भिक्षु-सूत्र

(२८९)

जो ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर के प्रवचनों पर श्रद्धा रखकर छः काय के जीवों को अपनी आत्मा के समान मानता है, जो अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों का पूर्ण रूप से पालन करता है, जो पाँच आस्रवों का संवरण अर्थात् निरोध करता है, वही भिक्षु है।

(२९०)

जो सदा क्रोध, मान, माया और लोभ चार कषायों का परित्याग करता है, जो ज्ञानी पुरुषों के वचनों पर दृढ़ विश्वासी रहता है, जो चाँदी, सोना आदि किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं रखता, जो गृहस्थों के साथ कोई भी सांसारिक स्नेह-सम्बन्ध नहीं जोड़ता, वही भिक्षु है।

(२९१)

जो सम्यग्दर्शी है, जो कर्त्तव्य-विमूढ़ नहीं है, जो ज्ञान, तप और संयम का दृढ़ श्रद्धालु है, जो मन, वचन और शरीर को पाप-पथ पर जाने से रोक रखता है, जो तप के द्वारा पूर्व-कृत पाप-कर्मों को नष्ट कर देता है, वही भिक्षु है।

(२९२)

न य वुग्गहियं कहं कहिज्जा,
न य कुप्पे निहुइन्दिए पसन्ते ।
संजमधुवजोगजुत्ते,
उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू ॥४॥

(२९३)

जो सहइ हु गामकंटए,
अक्कोस-पहार-तज्जणाओ य ।
भय-भेरव-सद्द-सप्पहासे,
समसुह-दुक्खसहे जे स भिक्खू ॥५॥

(२९४)

अभिभूय काएण परिसहाइं,
समुद्धरे जाइपहाउ अप्पयं ।
विइत्तु जाई-मरणं महब्भयं,
तवे रए सामणिए जे स भिक्खू ॥६॥

(२९५)

हत्थसंजए पायसंजए,
वायसंजए संजइन्दिए ।

(२९२)

जो कलहकारी वचन नहीं कहता, जो क्रोध नहीं करता, जिसकी इन्द्रियाँ अचचल हैं, जो प्रशान्त है, जो सयम मे ध्रुवयोगी (सर्वथा तल्लीन) रहता है, जो सकट आने पर व्याकुल नहीं होता, जो कभी योग्य कर्त्तव्य का अनादर नहीं करता, वही भिक्षु है।

(२९३)

जो कान मे कॉटे के समान चुभनेवाले आक्रोश वचनों को, प्रहारों को, तथा अयोग्य उपालभों को शान्तिपूर्वक सह लेता है, जो भीषण अट्टहास और प्रचण्ड गर्जनावाले स्थानों मे भी निर्भय रहता है, जो सुख-दुःख दोनों को एकसमान समभावपूर्वक सहन करता है, वही भिक्षु है।

(२९४)

जो शरीर से परीषहों को धैर्य के साथ सहन कर संसार-गर्त से अपना उद्धार कर लेता है, जो जन्म-मरण को महाभयकर जानकर सदा श्रमणोचित तपश्चरण में रत रहता है, वही भिक्षु है।

(२९५)

जो हाथ, पॉव, वाणी और इन्द्रियों का यथार्थ सयम रखता है, जो सदा अध्यात्म-चिंतन में ही रत रहता है, जो अपने-आपको

अज्झप्परए सुसमाहिअप्पा,
सुत्तत्थं च वियाणइ जे स भिक्खू ॥७॥

(२१६)

उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे,
अन्नायउंछं, पुलनिप्पुलाए ।
कयविक्कयसन्निहिओ विरए,
सव्वसंगावगए य जे स भिक्खू ॥८॥

(२१७)

अलोल भिक्खू न रसेसु गिद्धे,
उंछं चरे जीविय नाभिकखे ।
इड्ढिं च सक्कारण-पूयणं च,
चए ठियप्पा अणिहे जे स भिक्खू ॥९॥

(२१८)

न परं वइज्जासि अयं कुसीले,
जेणं च कुप्पेज्ज न तं वएज्जा ।
जाणिय पत्तेयं पुण्ण-पावं,
अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू ॥१०॥

भली भाँति समाधिस्थ करता है, जो सूत्रार्थ का पूरा जाननेवाला है, वही भिक्षु है।

(२९६)

जो अपने संयम-साधक उपकरणों तक में भी मूर्च्छा (आसक्ति) नहीं रखता, जो लालची नहीं है, जो अज्ञात परिवारों के यहाँ से भिक्षा माँगता है, जो संयम-पथ में बाधक होनेवाले दोषों से दूर रहता है, जो खरीदने-बेचने और संग्रह करने के गृहस्थोचित धंधों के फेर मे नहीं पड़ता, जो सब प्रकार से निःसंग रहता है, वही भिक्षु है।

(२९७)

जो मुनि अलोलुप है, जो रसों मे अगृद्ध है, जो अज्ञात कुल की भिक्षा करता है, जो जीवन की चिन्ता नहीं करता, जो ऋद्धि, सत्कार और पूजा-प्रतिष्ठा का मोह भी छोड़ देता है, जो स्थितात्मा तथा निस्पृही है, वही भिक्षु है।

(२९८)

जो दूसरों को 'यह दुराचारी है' ऐसा नहीं कहता, जो कटु वचन जिससे सुननेवाला क्षुब्ध हो नहीं बोलता, 'सब जीव अपने अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही सुख-दुःख भोगते हैं' ऐसा जानकर जो दूसरों की निन्द्य चेष्टाओं पर लक्ष्य न देकर अपने सुधार की चिंता करता है, जो अपने-आपको उग्र तप और त्याग आदि के गर्व से उद्धत नहीं बनाता, वही भिक्षु है।

(२९९)

न जाइमत्ते न य रूवमत्ते,
न लाभमत्ते न सुएण मत्ते ।
मयाणि सव्वाणि विवज्जयंतो,
धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू ॥११॥

(३००)

पवेयए अज्जपयं महामुणी,
धम्मे ठिओ ठावयई परं पि ।
निक्खम्म वज्जेज्ज कुसीललिंगं,
न यावि हासंकुहए जे स भिक्खू ॥१२॥

(३०१)

तं देहवासं असुइं असासयं,
सया चए निच्चहियट्ठियप्पा ।
छिंदित्तु जाईमरणस्स बंधणं,
उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं ॥१३॥

—[दश० अ० १० गा० ५-६-७-१०-११-
१४-१५-१६-१७-१८-१९-२०-२१]

(२९९)

जो जाति का अभिमान नहीं करता, जो रूप का अभिमान नहीं करता, जो लाभ का अभिमान नहीं करता, जो श्रुत (पाण्डित्य) का अभिमान नहीं करता, जो सभी प्रकार के अभिमानों का परित्याग कर केवल धर्म-ध्यान में ही रत रहता है, वही भिक्षु है।

(३००)

जो महामुनि आर्यपद (सद्धर्म) का उपदेश करता है, जो स्वयं धर्म मे स्थित होकर दूसरों को भी धर्म में स्थित करता है, जो घर-गृहस्थी के प्रपञ्च से निकल कर सदा के लिए कुशील लिंग (निन्द्य वेश) को छोड़ देता है, जो किसीके साथ हँसी-ठट्ठा भी नहीं करता, वही भिक्षु है।

(३०१)

इस भाँति अपने को सदैव कल्याण पथ पर खड़ा रखनेवाला भिक्षु अपवित्र और क्षणभंगुर शरीर में निवास करना हमेशा के लिए छोड़ देता है; जन्म-मरण के बन्धनों को सर्वथा काटकर अपुनरागम-गति (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

: २३ :

मोक्खमग्ग-सुत्तं

(३०२)

कहं चरे ? कहं चिट्ठे ? कहमासे ? कहं सए ?
कहं भुंजन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बन्धइ ? ॥१॥

(३०३)

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।
जयं भुंजन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बन्धइ ॥२॥

(३०४)

सव्वभूयप्पभूयस्स सम्म भूयाइं पासओ ।
पिहियासवस्स दन्तस्स पावं कम्मं न बन्धइ ॥३॥

(३०५)

पढमं नाण तओ दया एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।
अन्नाणी किं काही किंवा नाहिइ छेय-पावगं ? ॥४॥

: २३ :

मोक्षमार्ग-सूत्र

(३०२)

भन्ते ! कैसे चले? कैसे खड़ा हो? कैसे बैठे? कैसे सोये? कैसे भोजन करे? कैसे बोले? जिससे कि पाप-कर्म का बन्धन न हो।

(३०३)

आयुष्मन्! विवेक से चले, विवेक से खड़ा हो; विवेक से बैठे, विवेक से सोये, विवेक से भोजन करे; और विवेक से ही बोले, तो पाप-कर्म नहीं बाँध सकता।

(३०४)

जो सब जीवों को अपने ही समान समझता है, अपने, पराये, सबको समान दृष्टि से देखता है, जिसने सब आस्रवों का निरोध कर लिया है, जो चंचल इन्द्रियों का दमन कर चुका है, उसे पाप-कर्म का बन्धन नहीं होता।

(३०५)

प्रथम ज्ञान है, पीछे दया। इसी क्रम पर समग्र त्यागीवर्ग अपनी संयम-यात्रा के लिए ठहरा हुआ है। भला, अज्ञानी मनुष्य क्या करेगा? श्रेय तथा पाप को वह कैसे जान सकेगा?

(३०६)

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं छेयं तं समायरे ॥५॥

(३०७)

जो जीवे वि न जाणइ, अजीवे वि न जाणइ ।
जीवाऽजीवे अयाणंतो कहं सो नाहीइ संजमं ? ॥६॥

(३०८)

जो जीवे वि वियाणाइ, अजीवे वि वियाणइ ।
जीवाऽजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं ॥७॥

(३०९)

जया जीवमजीवे य, दो वि एए वियाणइ ।
तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ॥८॥

(३१०)

जया गइं बहुविहं सव्वजीवाण जाणइ ।
तया पुण्णं च पावं च बंधं मोक्खं च जाणइ ॥९॥

(३०६)

सुनकर ही कल्याण का मार्ग जाना जाता है। सुनकर ही पाप का मार्ग जाना जाता है। दोनों भी मार्ग सुनकर ही जाने जाते हैं। बुद्धिमान् साधक का कर्त्तव्य है कि पहले श्रवण करे और फिर अपने को जो श्रेय मालूम हो, उसको आचरण करे।

(३०७)

जो न तो जीव (चेतनतत्त्व) को जानता है, और न अजीव [जडतत्त्व] को ही जानता है, वह जीव अजीव के स्वरूप को न जाननेवाला साधक, भला किस तरह संयम को जान सकेगा ?

(३०८)

जो जीव को भी जानता है और अजीव को भी जानता है, ऐसा जीव और अजीव—दोनों को भलीभाँति जाननेवाला साधक ही संयम को जान सकेगा।

(३०९)

जब जीव और अजीव दोनों को भलीभाँति जान लेता है, तब वह सब जीवों की नानाविध गति (नरक तिर्यंच आदि) को भी जान लेता है।

(३१०)

जब वह सब जीवों की नानाविध गतियों को जान लेता है, तब पुण्य, पाप, बन्धन और मोक्ष को भी जान लेता है।

(३११)

जया पुण्णं च पावं च बंधं मोक्खं च जाणइ ।
तया निव्विदए भोए जे दिव्वे जे य माणुसे ॥१०॥

(३१२)

जया निव्विदए भोए जे दिव्वे जे य माणुसे ।
तया चयइ संजोगं सब्भिन्तरं बाहिरं ॥११॥

(३१३)

जया चयइ संजोगं सब्भिन्तरं बाहिरं ।
तया मुण्डे भवित्ताणं पव्वयइ अणगारियं ॥१२॥

(३१४)

जया मुण्डे भवित्ताणं पव्वयइ अणगारियं ।
तया संवरमुक्किट्ठं धम्मं फासे अणुत्तरं ॥१३॥

(३१५)

जया संवरमुक्किट्ठं धम्मं फासे अणुत्तरं ।
तया धुणइ कम्मरयं अबोहिकलुसं कडं ॥१४॥

(३११)

जब पुण्य, पाप, बन्धन और मोक्ष को जान लेता है, तब देवता और मनुष्यसम्बन्धी समस्त काम-भोगों की निर्गुणता को जान लेता है अर्थात् उनसे विरक्त हो जाता है।

(३१२)

जब देवता और मनुष्यसम्बन्धी समस्त काम-भोगों से विरक्त हो जाता है, तब अन्दर और बाहर के सभी सांसारिक सम्बन्धों को छोड़ देता है।

(३१३)

जब अन्दर और बाहर के समस्त सांसारिक सम्बन्धों को छोड़ देता है, तब मुण्डित (दीक्षित) होकर पूर्णतया अनगार वृत्ति (मुनिचर्या) को प्राप्त करता है।

(३१४)

जब मुण्डित होकर अनगार वृत्ति को प्राप्त करता है, तब उत्कृष्ट संवर एवं अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है।

(३१५)

जब उत्कृष्ट संवर एवं अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है, तब (अन्तरात्मा पर से) अज्ञानकालिमाजन्य कर्म-मल को झाड़ देता है।

(३१६)

जया धुणइ कम्मरयं अबोहिकलुसं कडं ।
तया सव्वत्तगं नाणं दंसणं चाभिगच्छइ ॥१५॥

(३१७)

जया सव्वत्तगं नाणं दंसणं चाभिगच्छइ ।
तया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली ॥१६॥

(३१८)

जया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली ।
तया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ ॥१७॥

(३१९)

जया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ ।
तया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥१८॥

(३२०)

जया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।
तया लोगमत्थयत्थो सिद्धो हवइ सासओ ॥१९॥

(३१६)

जब (अन्तरात्मा पर से) अज्ञानकालिमाजन्य कर्म-मल को दूर कर देता है, तब सर्वत्रगामी केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है।

(३१७)

जब सर्वत्रगामी केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है, तब जिन तथा केवली होकर लोक और अलोक को जान लेता है।

(३१८)

जब केवलज्ञानी जिन लोक-अलोकरूप समस्त संसार को जान लेता है, तब (आयु-समाप्ति पर) मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति का निरोधन कर शैलेशी (अचल-अकम्प) अवस्था को प्राप्त होता है।

(३१९)

जब मन, वचन और शरीर के योगों का निरोधन कर आत्मा शैलेशी अवस्था को पाती है पूर्णरूप से स्पन्दन-रहित हो जाती है, तब सब कर्मों को क्षय कर सर्वथा मल-रहित होकर सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त होती है।

(३२०)

जब आत्मा सब कर्मों को क्षय कर सर्वथा मलरहित होकर सिद्धि को पा लेती है, तब लोक के मस्तक पर- ऊपर के अग्र भागपर स्थित होकर सदा काल के लिए सिद्ध हो जाती है।

(३२१)

सुहसायगस्स समणस्स सायाउलगस्स निगामसाइस्स ।
उच्छोलणापहाविस्स दुल्लहा सोग्गई तारिसगस्स ॥२०॥

(३२२)

तवोगुणपहाणस्स उज्जुमईखन्तिसंजमरयस्स ।
परीसहे जिणन्तस्स सुलहा सोग्गई तारिसगस्स ॥२१॥

–[दश० अ० ४ गा० ७–८–९–१०–११–१२
–१३–१४–१५–१६–१७–१८–१९–२०
–२१–२२–२३–२४–२५–२६–२७]

(३२१)

जो श्रमण भौतिक सुख की इच्छा रखता है, भविष्यकालिक सुख-साधनों के लिए व्याकुल रहता है, जब देखो तब सोता रहता है, सुन्दरता के फेर में पड़कर हाथ, पैर, मुँह आदि धोने में लगा रहता है, उसे सद्गति मिलनी बड़ी दुर्लभ है।

(३२२)

जो उत्कृष्ट तपश्चरण का गुण रखता है, प्रकृति से सरल है, क्षमा और संयम में रत है, शान्ति के साथ क्षुधा आदि परीषहों को जीतनेवाला है, उसे सद्गति मिलनी बड़ी सुलभ है।

विवाद-सुत्तं

(३२३)

नत्थियवाओ

संति पंच महब्भूया, इहमेगेसिमाहिया ।
पुढवी आऊ तेऊ वा, वाऊ आगासपंचमा ॥१॥

(३२४)

एए पंच महब्भूया, तेब्भो एगो त्ति आहिया ।
अह तेसिं विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥२॥

(३२५)

वाढवाओ

जहा य पुढवीथूभे, एगे नाणा हि दीसइ ।
एवं भो ! कसिणे लोए, विन्नू नाणा हि दीसइ॥३॥

: २४ :

विवाद-सूत्र

(३२३)

नास्तिक वाद

कितने ही लोगों की ऐसी मान्यता है कि इस संसार में जो कुछ भी है वह केवल पृथ्वी, जल, तेज, वायु और पाँचवाँ आकाश ये पाँच महाभूत ही हैं।

(३२४)

उक्त महाभूतों में से एक (आत्मा) पैदा होती है, भूतों का नाश होने पर देही (आत्मा) का भी नाश जाता है। [अर्थात् जीवात्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। वह पाँच महाभूतों में से उत्पन्न होता है, और जब वे नष्ट होते हैं, तब उनके साथ ही स्वयं भी नष्ट हो जाता है।]

(३२५)

ब्रह्मवाद

जैसे, पृथ्वी का समूह (पृथ्वीस्तूप) एक (एकसमान) है, तो भी पर्वत, नगर, घट, शराव आदि अनेक रूपों में पृथक्-पृथक् मालूम होता है; उसी तरह समस्त विश्व भी विज्ञ-स्वरूप (एक ही चैतन्य आत्मा के रूप में समान) है, तथापि भेद-बुद्धि के कारण वन, वृक्ष आदि जड तथा पशु, पक्षी, मनुष्य आदि चैतन्य के रूप में पृथक्-पृथक् दिखाई देता है।

(३२६)

तज्जीवतच्छरीरवाओ

पत्तेयं कसिणे आया जे बाला जे य पंडिया।
सन्ति पिच्चा न ते सन्ति, नत्थि सत्तोववाइया॥४॥

(३२७)

नत्थि पुण्णे व पावे वा, नत्थि लोए इओऽवरे।
सरीरस्स विणासेणं, विणासो होइ देहिणो॥५॥

(३२८)

अकिरियावाओ

कुव्वं च कारयं चेव, सव्वं कुव्वं न विज्जई।
एवं अकारओ अप्पा, एवं ते उ पगब्भिया॥६॥

(२२६)

तज्जीवतच्छरीरवाद

संसार में जितने भी शरीर है, वास्तव में वे ही एक-एक आत्मा है अर्थात् आत्मा या जीव जो कुछ भी है, वह शरीर ही है। शरीर-नाश के बाद मूर्ख या पंडित, धर्मात्मा या पापी परलोक में जानेवाला कोई भी नहीं रहता। क्योंकि शरीर से पृथक् कोई भी सत्त्व (प्राणी) औपपातिक (एक जन्म से दूसरे जन्म में उत्पन्न होनेवाला) नहीं है।

(२२७)

न पुण्य है, न पाप है, और न इन दोनों के फलस्वरूप प्रस्तुत दृश्य जगत् से अतिरिक्त परलोक के नाम से दूसरा कोई जगत् ही है। शरीर के नाश के साथ ही तत्स्वरूप देही (आत्मा) का भी नाश हो जाता है।

(२२८)

अक्रियावाद

आत्मा करनेवाला या करानेवाला यों कहिए कि किसी भी प्रकार से कुछ भी क्रिया करनेवाला नहीं है। इसी भाँति कितने ही प्रगल्भ (धृष्ट) होकर आत्मा को अकारक (अकर्ता) बतलाते हैं।

(३२९)

खंधवाओ

पंच खंधे वयंतेगे, बाला उ खण-जोइणो ।
अण्णो अणण्णो णेवाहु, हेउयं च अहेउयं ॥७॥

(३३०)

निच्च-वाओ

संति पंच महब्भूया, इहमेगेसिमाहिया ।
आयछट्ठा पुणो आहु, आया लोगे य सासए ॥८॥

(३३१)

दुहओ न विणस्सन्ति, नो य उप्पज्जए असं ।
सव्वे वि सव्वहा भावा, नियतिभावमागया ॥९॥
—[सूत्र० श्रु० १ अ० १ उ० १ गा० ७–८–९–
११–१२–१३–१४–१५–१६]

(३२९)

स्कन्धवाद

कितने ही बाल (अज्ञानी) ऐसा कहते हैं कि संसार में मात्र रूपादि पाँच ही स्कन्ध हैं और वे सब क्षणयोगी अर्थात् क्षण-क्षण में उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। इनके अतिरिक्त, सहेतुक या निर्हेतुक तथा भिन्न या अभिन्न दूसरा कोई भी (आत्मा-जैसा) पदार्थ नहीं है।

(३३०)

नित्यवाद

कितने ही लोगों का ऐसा कहना है कि पाँच महाभूत हैं, और इनसे भिन्न चित्स्वरूप छठा आत्मा है। तथा ये सब आत्मा और लोक शाश्वत हैं नित्य हैं।

(३३१)

यह जड़ और चैतन्य उभयस्वरूप जगत् न तो कभी नष्ट होता है, न कभी उत्पन्न ही होता है। असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती, सत् का कभी नाश नहीं होता; इसलिए सब पदार्थ सर्वथा नियतता (नित्यता) को प्राप्त हैं।

(३३२)

नियतिवाओ

न तं सयं कडं दुक्खं, कओ अन्नकडं च णं ?।
सुहं वा जइ वा दुक्खं, सेहियं वा असेहियं ॥१०॥

(३३३)

सयं कड न अण्णेहिं, वेदयन्ति पुढो जिया।
सगइयं तहा तेसिं, इहमेगेसिमाहिया ॥११॥
—[सूत्र० श्रु० १ अ० १ उ० २ गा० २-३]

(३३४)

धाउ-वाओ

पुढवी आऊ तेऊ य, तहा वाऊ य एगओ।
चत्तारि धाउणो रूवं, एवमाहंसु आवरे ॥१२॥
—[सूत्र० श्रु० १ अ० १ उ० १ गा० १८]

(३३२)

नियतिवाद

कितने ही ऐसा कहते हैं कि ससार मे जीवात्माएँ नैमित्तिक अथवा अनैमित्तिक जो भी सुख-दुःख का अनुभव करती हैं, तथा समय आने पर अपने स्थान पर च्युत होती हैं, वह सब आत्मा के अपने पुरुषार्थ से नहीं होता. नियति से ही होता है। अस्तु, जब अपने सुख-दुःख की आत्मा आप विधाता नहीं है, तब भला दूसरा कोई तो हो ही कैसे सकता है ?

(३३३)

जीवात्माएँ पृथक्-पृथक् रूप से जो सुख-दुःख का अनुभव करती हैं, वह न तो स्वकृत ही होता है और न परकृत ही। यह जो कुछ भी उत्थान या पतन हुआ करता है, सब सागतिक है नियति से है। (जब जहाँ जैसा बननेवाला होता है, तब वहाँ वैसा ही नियतिवश बन जाता है। इसमें किसी के पुरुषार्थ आदि का कुछ भी वश नहीं चलता।)

(३३४)

धातु-वाद

दूसरे लोग ऐसा कहते हैं कि पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार धातुओं (धारक तथा पोषक तत्त्वों) का ही यह रूप (शरीर तथा संसार) बना हुआ है। इनके अतिरिक्त, दूसरा कुछ भी स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है।

(३३५)

जग-हेउवाओ

इणमन्नं तु अन्नाणं, इहमेगेसिमाहिया ।
देव-उत्ते अयं लोए, बंभउत्ते य आवरे ॥१३॥

(३३६)

ईसरेण कडे लोए, पहाणाइ तहाऽवरे ।
जीवाजीवसमाउत्ते सुहदुक्खसमन्निए ॥१४॥

(३३७)

सयंभुणा कडे लोए, इइ वुत्तं महेसिणा ।
मारेण संथुआ माया, तेण लोए असासए ॥१५॥
—[सूत्र० श्रु० १ अ० १ उ० ३ गा० ५-६-७]

(३३८)

उवसंहारो

एवमेयाणि जम्पन्ता, बाला पंडियमाणिणो ।
नियया नियंयं सन्तं, अयाणन्ता अबुद्धिया ॥१६॥
—[सूत्र० श्रु० १ अ० १ उ० २ गा० ४]

(३३५)

जगत्कर्तृत्ववाद

जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कितने ही लोगों का यह भ्रान्तिमय वक्तव्य है

"कोई कहते हैं कि यह लोक देवों ने बनाया है।"

"कोई कहते हैं कि यह लोक ब्रह्मा ने बनाया है।"

(३३६)

"कोई कहते हैं कि यह लोक ईश्वर ने बनाया है।"

"कोई कहते हैं कि जड़ और चैतन्य से युक्त तथा सुख और दुःख से समन्वित यह लोक प्रधान (प्रकृति) आदि के द्वारा बना है।"

(३३७)

"कोई कहते हैं कि यह लोग स्वयम्भू ने बनाया है, ऐसा हमारे महर्षि ने कहा है। अनन्तर मार ने माया का विस्तार किया इस कारण लोक अशाश्वत (अनित्य) है।"

(३३८)

उपसंहार

अपने-आपको पण्डित माननेवाले बुद्धिहीन मूर्ख इस प्रकार की अनेक बातें करते हैं। परन्तु नियति क्या है और अनियति क्या, यह कुछ भी नहीं जानते, समझते।

(३३९)

ते नावि संधिं नच्चाणं, न ते धम्मविऊ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते संसारपारगा ॥१७॥

(३४०)

नाणाविहाइं दुक्खाइं, अणुहोन्ति पुणो पुणो ।
संसारचक्कवालम्मि, मच्चुवाहिजराकुले ॥१८॥

(३४१)

उच्चावयाणि गच्छन्ता, गब्भमेस्सन्तिऽणन्तसो ।
नायपुत्ते महावीरे एवमाह जिणुत्तमे ॥१९॥
—[सूत्र०श्रु० १ अ० १ उ० १ गा० २१–२६–२७]

(३३९)

वे न तो ठीक-ठीक कर्म-सन्धि का ही ज्ञान रखते हैं, और न उन्हें कुछ धर्म का ही भान है। जो ऐसी अनर्गल बातें करते हैं, वे संसार (-समुद्र) से पार नहीं हो सकते।

(३४०)

जरा, मरण और व्याधि से पूर्ण संसार-चक्र में वे लोग बार-बार नाना प्रकार के दुःख भोगते रहते हैं।

(३४१)

वे लोग कभी तो ऊँची योनि में जाते हैं, और कभी नीची योनि में जाते हैं। यों ही इधर-उधर परिभ्रमण करते हुए अनन्त बार गर्भ में पैदा होंगे, जन्म लेंगे और मरेंगे जिनश्रेष्ठ ज्ञातपुत्र महावीर स्वामी ने ऐसा कहा है।

खामणासुत्तं

(३४२)

सव्वस्स जीवरासिस्स भावओ धम्मनिहिअनिअचित्तो ।
सव्वे खमावइत्ता खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥१॥

(३४३)

सव्वस्स समणसंघस्स भगवओ अंजलिं करिअ सीसे ।
सव्वे खमावइत्ता खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥२॥

(३४४)

आयरिए उवज्झाए सीसे साहम्मिए कुल-गणे य ।
जे मे केइ कसाया सव्वे तिविहेण खामेमि ॥३॥

-[पंचप्रति० आयरि अ० सू० ३-२-१]

(३४५)

खामेमि सव्वे जीवे सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं न केणइ ॥४॥

-[पंचप्रति० वंदित्तु सू० गा० ४९]

(३४६)

जं जं मणेण बद्धं जं जं वायाए भासिअं पावं ।
जं जं काएण कयं मिच्छा मि दुक्कडं तस्स ॥५॥

-[पंचप्रति० संथारा० सू० अंतिम गाथा]

: २५ :

क्षमापन-सूत्र

(३४२)

धर्म मे स्थिर बुद्धि होकर मैं सद्भावपूर्वक सब जीवो के पास अपने अपराधों की क्षमा माँगता हूँ और उनके सब अपराधो को मै भी सद्भावपूर्वक क्षमा करता हूँ ।

(३४३)

मैं नतमस्तक होकर भगवत् श्रमणसघ के पास अपने अपराधों की क्षमा माँगता हूँ और उनको भी मै क्षमा करता हूँ ।

(३४४)

आचार्य, उपाध्याय, शिष्यगण और साधर्मी बन्धुओं तथा कुल और गण के प्रति मैंने जो क्रोधादियुक्त व्यवहार किया हो उसके लिए मन, वचन और काय से क्षमा माँगता हूँ ।

(३४५)

मैं समस्त जीवों से क्षमा माँगता हूँ और सब जीव मुझे भी क्षमा दान दें । सर्व जीवों के साथ मेरी मैत्रीवृत्ति है; किसी के भी साथ मेरा वैर नहीं है ।

(३४६)

मैंने जो जो पाप मन से सकल्पित किये हैं, वाणी से बोले हैं और शरीर से किये हैं, वे मेरे सब पाप मिथ्या हो जायँ ।

परिशिष्ट (१)

सूत्रों में दी हुई प्रत्येक गाथाओं के मूलस्थलों का निर्देश

१–मंगल सूत्र

(नमस्कार) =	पं० प्र० सू० १
(मंगल) =	पं० प्र० संथारा सू०
(लोकोत्तम) =	पं० प्र० संथारा सू०
(शरण) =	पं० प्र० संथारा सू०

२–धर्म सूत्र

१	दश० अ० १ गा० १
२	उत्त० अ० २१ गा० १२
३	सूत्र कृ० श्रु० १ अ० ८ गा० १९
४	उत्त० अ० २३ गा० ६८
५–८	उत्त० अ० २९ गा० १८–२१
९–१०	उत्त० अ० ५ गा० १४–१५
११–१३	उत्त० अ० ७ गा० १४–१६
१४–१५	उत्त० अ० १४ गा० २४–२५

१६	दश० अ० ८ गा० ३६
१७	उत्त० अ० १४ गा० ४०

३—अहिंसा सूत्र

१८—१९	दश० अ० ६ गा० ९—१०
२०	सूत्र कृ० श्रु० १ अ० १३—१ गा० ३
२१	उत्त० अ० ८ गा० १०
२२	दश० अ० ६ गा० ११
२३	उत्त० अ० ६ गा० ११
२४—२७	सूत्र कृ० श्रु० १ अ० ११ गा० ७—१०
२८	सूत्र कृ० श्रु० १ अ० १० गा० २१
२९	उत्त० अ० १९ गा० २५

४—सत्य सूत्र

३०	उत्त० अ० १९ गा० २६
३१—३२	दश० अ० ६ गा० १२—१३
३३	उत्त अ० १ गा० २५
३४	दश० अ० ७ गा० ५४
३५	दश० अ० ८ गा० ४९
३६	दश० अ० ७ गा० १६
३७	सूत्र कृ० श्रु० १ अ० १३ गा० १९
३८—४१	दश० अ० ७ गा ५५-१२-५-११

५—अस्तेयक सूत्र

४२—४३	दश० अ० ६ गा० १४—१५
४४	सूत्र कृ० श्रु० १ अ० १० गा० २
४५	सूत्र कृ० श्रु० १ अ० ५-३-१ गा० ४
४६	उत्त० अ० १९ गा० २७

६—ब्रह्मचर्य सूत्र

४७	उत्त अ० १९ गा०-गा० २८
४८—४९	दश० अ० ६ गा० १६—१७
५०	दश० अ० ८ गा० ५७
५१—५२	उत्त० अ० ३२ गा० १४—१५
५३—५९	उत्त० अ० १६ गा० २-८
६०	उत्त० अ० ३२ गा० ११
६१—६३	उत्त० अ० १६ गा० ९-१०-१४
६४	उत्त० अ० ३२ गा० १९
६५—६६	उत्त० अ० १६ गा० १६-१४

७—अपरिग्रह सूत्र

६७	दश० अ० ६ गा० २१
६८	उत्त० अ० १९ गा० २९
६९—७२	दश० अ० ६ गा० १८-२०-२२-२३

८—अरात्रि भोजन सूत्र

७३	दश० अ० ८ गा० २८
७४—७६	दश० अ० ६ गा० २४-२६
७७	उत्त० अ० १९ गा० ३०
७८	उत्त० अ० ३० गा० २

९—विनय सूत्र

७९—८०	दश० अ० ९ उ० २ गा० १-२
८१—८३	उत्त० अ० ११ गा० ३-५
८४	उत्त० अ० १ गा० २
८५—८८	उत्त० अ० ११ गा० १०—१३
८९	उत्त० अ० १ गा० ३
९०—९२	उत्त० अ० ११ गा० ७-९
९३—९४	दश० अ० ९ उ० १ गा० १२-१३
९५	दश० अ० ९ उ० २ गा० २१

१०—चतुरङ्गीय सूत्र

९६—१००	उत्त० अ० ३ गा० १-१३, २०

११—अप्रमाद सूत्र

११-(२) अप्रमाद सूत्र

१२३-१३५	उत्त० अ० १० गा० १-१३
१३६	उत्त० अ० १० गा० १५
१३७-१४१	उत्त० अ० १० गा० १६
१४२-१४६	उत्त० अ० १० गा० २६-३०
१४७-१४९	उत्त० अ० १० गा० ३३,३४,३७

१२-प्रमादस्थान सूत्र

१५०	सूत्र कृ० श्रु० १ अ० ८ गा० ३
१५१-१६१	उत्त० अ० ३२ गा० ६-८,१०,२४,३२-३४,१००,१०१,१११

१३-कषाय सूत्र

१६२-१६५	दश० अ० ८ गा० ४०,३७-३९,
१६६-१६७	उत्त० अ० ८ गा० १६,१७
१६८-१७०	उत्त० अ० ९ गा० ५४,४८,४९
१७१	सूत्र कृ० श्रु० १ अ० ६ गा० २६

१४-काम सूत्र

१७२	उत्त० अ० ९ गा० ५३
१७३	उत्त० अ० १३ गा० १६
१७४	उत्त० अ० १४ गा० १३

१७५ उत्त० अ० १९ गा० १७

१७६ उत्त० अ० ३२ गा० २०

१७७ उत्त० अ० २५ गा० ४१

१७८ उत्त० अ० ५ गा० २१

१७९ उत्त० अ० ६ गा० ११

१८० उत्त० अ० १३ गा० ३१

१८१ दश० अ० ८ गा० ३४

१८२—१८३ सूत्रकृ० श्रु० १ अ० २ उ० १ १ गा० १०-१

१८४ उत्त० अ० ८ गा० ६

१५—अशरण सूत्र

१८५ सूत्रकृ० श्रु० १ अ० २ उ० ३ गा० १६

१८६—१८७ उत्त० अ० १९ गा० १५, १२

१८८ उत्त० अ० १८ गा० १४

१८९ उत्त० अ० १४ गा० १२

१९०—१९१ उत्त० अ० १३ गा० २४, २२

१९२ सूत्रकृ० श्रु० १ अ० २ उ० १ गा० ४

१९३—१९४ उत्त० अ० १९ गा० १३, १४

१९५ उत्त० अ० १८ गा० १३

१९६ उत्त० अ० १३ गा० २३

१९७ उत्त० अ० ६ गा० १०

१६—बाल-सूत्र

१९८	उत्त० अ० ८ गा० ५
१९९	उत्त० अ० ५ गा० ५
२००–२०५	उत्त० अ० ५ गा० ६–११
२०६	सूत्रकृ० श्रु० १ अ० ५ उ० १ गा० ३
२०७	दश० चू० १
२०८	दश० अ० ५ उ० २ गा० ३९
२०९	उत्त० अ० १० गा० ३
२१०	सूत्रकृ० श्रु० १ अ० ८ गा० ७
२११	उत्त० अ० ९ गा० ४४
२१२	उत्त० अ० ८ गा० १४
२१३	उत्त० अ० ६ गा० १
२१४	उत्त० अ० ५ गा० ३
२१५–१७	उत्त० अ० ७ गा० २८–३०

१७—पण्डित सूत्र

२१८	उत्त० अ० ६ गा० २
२१९–२०	दश० अ० २ गा० ३, २
२२१	सूत्र कृ० श्रु० १ अ० १२ गा० १८
२२२	आचा० श्रु० १ अ० २ उ० ६ गा० ९९
२२३	सूत्र कृ० श्रु० १ अ० ८ गा० १६
२२४	उत्त० अ० ९ गा० ४०

२२५–२८	उत्त० अ० ३२ गा० २–५
२२९	आचा० श्रु० १ अ० ३ उ० २ गा० १
२३०	सूत्र कृ० श्रु० १ अ० १२ गा० १५

१८–आत्म सूत्र

२३१–३२	उत्त० अ० २० गा० ३६–३७
२३३–३४	उत्त० अ० १ गा० १५–१६
२३५–३७	उत्त० अ० ९ गा० ३४–३६
२३८	उत्त० अ० २० गा० ४८
२३९	दश० चू० प्रथम, गा० १७
२४०	दश० चू० द्वितीय, गा० १६
२४१	उत्त० अ० २३ गा० ७३
२४२	उत्त० अ० २० गा० ४९

१९–लोकतत्त्व सूत्र

२४३–५२	उत्त० अ० २८ गा० ७, ९–१२, १४, १५, ३५, ३, ४
२५३–५४	उत्त० अ० ३३ गा० २, ३
२५५–५७	उत्त० अ० ३० गा० ७, ८, ३०
२५८–६०	उत्त० अ० ३४ गा० ३, ५६, ५७
२६१–६४	उत्त० अ० २४ गा० १, २, २६, २७

२०—पूज्य सूत्र

२६५—७४	दश० अ० ९, उ० ३ गा० २, ४—१४

२१—ब्राह्मण सूत्र

२७५—८८	उत्त० अ० २५ गा० २०—२९, ३१—३५

२२—भिक्षु सूत्र

२८९—३०१	दश० अ० १० गा० ५—७, १०, ११, १४—२१

२३—मोक्षमार्ग सूत्र

३०२—२२	दश० अ० ४ गा० ७—२७

२४—विवादसूत्र

३२३—३१	सूत्र कृ० श्रु० १ अ० १ उ० १ गा० ७—९ ११—१३—१७, १५, १६
३३२—३३	सूत्र कृ० श्रु० अ० १ उ० २ गा० २, ३
३३४	सूत्र कृ० श्रु० १ अ० १ उ० १ गा० १८
३३५—३७	सूत्र कृ० श्रु० अ० १ उ० २ गा० ५, ६, ७,
३३८	सूत्र कृ० श्रु० १ अ० १ उ० ३ गा० ४
३३९—४१	सूत्र कृ० श्रु० १ अ० १ उ० १ गा० २१, २६, २७

२५—क्षमापना सूत्र

३४२—४४	पं० प्र० आयरिय सू० गा० ३, २, १
३४५	पं० प्र० वंदित्तु सू० गा० ४९
३४६	पं० प्र० संथारग सू० अन्तिमगाथा

परिशिष्ट (२)

महावीर-वाणी की गाथाओं का अक्षरानुक्रम

परिशिष्ट (३)

पारिभाषिक शब्दों का अर्थ

अकाम अविवेक अज्ञान-पूर्वक दुःख-सुख आदि सहन करने की प्रवृत्ति या इच्छा न होने पर भी परवशतः सहन करनेकी प्रवृत्ति।

अगृद्ध अलोलुप।

अचित्त सचित्तसे उलटा निर्जीव।

अनगार अन्+अगार, अगार=घर, जिसका अमुक एक घर नहीं है अर्थात् निरंतर सविधि भ्रमण-शील साधक, साधु।

अनुत्तर उत्तमोत्तम।

अवधि रूपादियुक्त परोक्ष या अपरोक्ष पदार्थ को मर्यादित रीतिसे जान सकनेवाला विविध प्रकारका ज्ञान।

आदाननिक्षेप किसी को किसी भी प्रकारका क्लेश न हो इस तरह का संकल्प धारण कर कोई भी पदार्थ को धरना या उठाना।

आस्रव आसक्ति युक्त अच्छी या बुरी प्रवृत्ति।

आहार अशन, पान, खादिम और स्वादिम, यह चार प्रकारका भोजन, अशन कोई भी खाद्य पदार्थका भोजन, पान

कोई भी पेय पदार्थका शरबत-जल-दूध आदि पीने की चीजों को पीना, खादिम फल, मेवा आदि, स्वादिम मुखवास, लवंग सुपारी आदि।

इंगित- शारीरिक संकेत नेत्र, हाथ, आदि के इशारे।

ईर्या गमन आगमन आदि क्रिया; ईर्या-समिति किसी को किसी भी प्रकार का क्लेश न हो ऐसे संकल्प से सावधानी पूर्वक चलना-फिरना आदि सब क्रियाओं का करना।

उच्चार-समिति शौचक्रिया या लघुशंका अर्थात् किसी भी प्रकार का शारीरिक मलका मानी उच्चार, मलको ऐसे स्थान में छोडना जहाँ किसी को लेश भी कष्ट न हो और जहाँ कोई भी आता-जाता न हो और देख भी न सके इसका नाम उच्चार-समिति है।

उब्भेइमलोण उद्भेदिम—लवण समुद्र के पानी से बना हुआ सहज नमक।

ऊनोदरी भूख से कुछ कम खाना, उदर को ऊन रखना पूरा न भरना।

एकेंद्रिय केवल एक स्पर्श चमडी इंद्रियवाले जीव जैसे वनस्पति।

एषणा निर्दोष वस्त्र, पात्र और खानपान की शोध करना, निर्दोष का मानी हिंसा, असत्य आदि दोषों से रहित।

एषणीय शोधनीय—खोज करने लायक जिनकी उत्पत्ति दूषित है या नहीं इस प्रकार गवेषणा के योग्य।

औपपातिक उपपात अर्थात् स्वर्ग मे या नरक में जन्म होना। औपपातिक का अर्थ हुआ स्वर्गीय प्राणी या नारकी प्राणी।

कषाय आत्मा के शुद्ध स्वरूप को कष नाश करनेवाले, क्रोध, मान माया और लोभ ये चार महादोष।

किंपाकफल जो फल देखने मे और स्वाद मे सुन्दर होता है पर खाने से प्राण का नाश करता है।

केवली केवलज्ञान वाला सतत शुद्ध आत्म-निष्ठ।

गुप्ति गोपन करना संरक्षण करना; मन, वचन और शरीर को दुष्ट कार्यों से बचा लेना।

चतुरिन्द्रिय स्पर्श, रस, घ्राण और नेत्र इन चार इन्द्रियों वाले प्राणी जैसे भ्रमर आदि।

तिर्यञ्च देव, नरक और मनुष्य को छोड़कर शेष जीवों का नाम 'तिर्यञ्च' है।

त्रस धूप से त्रास पाकर छाँह का और शीत से त्रास पाकर धूप का आश्रय लेनेवाला प्राणी त्रस।

त्रीन्द्रिय स्पर्श, रस और घ्राण इन तीन इन्द्रियों वाले जीव जैसे चींटी आदि।

दर्शनावरणीय दर्शन-शक्ति के आवरणरूप कर्म।

द्वीन्द्रिय स्पर्श और रस, इन दो इन्द्रियों वाले जीव जैसे जोंक इत्यादि ।

नायपुत्त भगवान महावीर के वंशका नाम नाय-ज्ञात-है अतः नायपुत्त ज्ञातपुत्र—भगवान महावीर का खास नाम है ।

निकाय समूह, जीवनिकाय—जीवोंका समूह ।

निर्ग्रन्थ गाँठ देकर रखने लायक कोई चीज जिनके पास नहीं है अपरिग्रही साधु ।

निर्जरा कर्मों को नाश करने की प्रवृत्ति अनासक्त चित्त से प्रवृत्ति करने से आत्मा के सब कर्म नाश हो जाते है ।

परीषह जब साधक साधना करता है तब जो जो विघ्न आते है उनके लिए 'परीषह' शब्द प्रयुक्त होता है । साधक को उन सब विघ्नों को सहन करना चाहिए इसलिए उनका नाम 'परीषह' हुआ ।

पुद्गल रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द वाले जड पदार्थ या जड पदार्थ के विविध रूप ।

प्रमाद विषय कषाय मद्य अतिनिद्रा और विकथा आदि का प्रसग-पांच इन्द्रियोंके शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श ये पान्च विषय, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय, मद्य मद्य और ऐसी ही अन्य मादक चीजे, अति निद्रा घोर निद्रा, विकथा सयमको घात करने वाली विविध प्रकारकी कुत्सित

कथाएँ ।

मति इंद्रिय जन्य ज्ञान

मनपर्याय दूसरोंके परोक्ष वा अपरोक्ष मनके भावोंको ठीक पहचाननेवाला ज्ञान ।

महाव्रत अहिंसाका पालन, सत्यका भाषण, अचौर्यवृत्ति, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच महाव्रत हैं ।

मोहनीय मोहको उत्पन्न करनेवाले कर्म मोहनीय कर्मके ही प्राबल्यसे आत्मा अपना स्वरूप नहीं पहचानता ।

रजोहरण रज को हरनेवाला साधन जो आजकल पतली ऊन की डोरियों से बनाया जाता है जैन साधु निरंतर पास रखते है जहाँ बैठना होता है वहाँ उससे झाडकर बैठते हैं । जिसका दूसरा नाम 'ओघा' 'चरवला' है ।

लेश्या आत्माके परिणाम अध्यवसाय ।

विडलोण गोमूत्रादिक द्वारा पका हुआ नमक ।

वेदनीय शरीरसे वा इंद्रियोंसे जिनका अनुभव होता है ऐसे सुख या दुःखके साधनरूप कर्म ।

वैयावृत्त्य बाल, वृद्ध, रोगी आदि अपने समान धर्मियोंकी सेवा ।

शैलेशी शिलेश हिमालय, हिमालय के समान अकंप स्थिति ।

श्रद्धान श्रद्धा—स्थितप्रज्ञ वीतराग आप्तपुरुष मे दृढ विश्वास ।

श्रमण स्वपर के कल्याण के लिए श्रम करनेवाला। यह शब्द जैन और बौद्ध साधुओं के लिए व्यवहार में प्रचलित है।

श्रुत सुना हुआ ज्ञान— शास्त्रज्ञान।

सकाम विवेक ज्ञान-पूर्वक दुःख-सुखादि सहन करने की प्रवृत्ति या स्वतन्त्रविचार से सहन करने की प्रवृत्ति।

सचित्त चित्तयुक्त प्राणयुक्त जीवसहित कोई भी पदार्थ।

समिति शारीरिक, वाचिक और मानसिक सावधानता।

संवर आश्रवों को रोकना, अनासक्त आत्मा की प्रवृत्ति आत्मा की शुद्ध प्रवृत्ति।

संलेखना मृत्यु (शरीरान्त) तक चलनेवाली वह प्रवृत्ति जिससे कषायों को दूर करने के लिए उनका पोषण और निर्वाह करनेवाले आन्तर्बाह्य निमित्त कम किए जाते हों।

ज्ञानावरणीय ज्ञानके आवरणरूप कर्म ज्ञान, ज्ञानी या ज्ञानके साधन के प्रति द्वेषादि दुर्भाव रखने से ज्ञानावरणीय कर्म बंधते हैं।

शुद्धि-पत्र

संपादकीय

पृ०	अशुद्ध	शुद्ध
६	-मूलः	-मूलाः

यह द्वितीय संस्करण

९	प्रत्यक्ष	का प्रत्यक्ष
१२	अहमदाबाद	अहमदाबाद ६

प्रस्तावना

१४	"वर्तमान"	"वर्धमान"
१७	विद	विदू
"	श्लोक	श्लोक
"	बुम	बूम
१८	श्रुतं	श्रुतं
२०	पूर्व	पूर्वे
२१	प्रपञ्चनम्	प्रपञ्चनम्
२१	"आस्रय"	"आस्रव"

धर्मसूत्र

पृ० १०	श्लो० १३	भवे	भवे
पृ० ११	"	मनुष्यत्त्व	मनुष्यत्व

अहिंसासुत्त

पृ० १४	श्लो० १८	गा० ९	गा० ८×
,,	श्लो० १९	गा० १०	गा० ९×
पृ० १६	श्लो० २२	गा० ११	गा० १०×

सच्चसुत्त

पृ० २०	श्लो० ३१	गा० १२	गा० ११×
,,	श्लो० ३२	गा० १३	गा० १२×
पृ० २२	श्लो० ३४	अ० १	अ० ७

अतेणगसुत्त

पृ० २६	श्लो० ४२	गा० १४	गा० १३×
,,	श्लो० ४३	गा० १५	गा० १४×

बंभचरियसुत्त

पृ० ३०	श्लो० ४८	गा० १६	गा० १५×
,,	श्लो० ४९	गा० ११	गा० १६
पृ० ३४	श्लो० ५८	पणियं	पणीयं
,,	,,	–विवड्ढुणं	–विवड्ढणं
,,	श्लो० ५९	भुजेज्जा	भुंजेज्जा
पृ० ३६	श्लो० ६४	–ऽन्तग	–ऽन्तगं
पृ० ३८	श्लो० ६६	गा० १४	गा० १७

×आगमोदय समिति के प्रकाशन की आवृत्ति के अनुसार

अप्परिग्गहसुत्त

पृ० ४०	श्लो० ६७	गा० २१	गा० २०X
,,	श्लो० ६९	गा० १८	गा० १७X
,,	श्लो० ७०	गा० २०	गा० १९X
पृ० ४२	श्लो० ७१	गा० २२	गा० २१X
,,	श्लो० ७२	गा० १९	गा० १८X

अराइभोयणसुत्त

पृ० ४४	श्लो० ७४	गा० २४	गा० २३X
,,	श्लो० ७५	गा० २५	गा० २४X
,,	श्लो० ७६	गा० २६	गा० २५X
पृ० ४९		विनय—	विनय-सूत्र
पृ० ५०	श्लो० ८२–८३	मम्मदामुहरे	मम्ममुदाहरे
,,	श्लो० ८५–८८	–परिक्खवी	–परिक्खेवी
पृ० ५२	श्लो० ९०–९२	अवीणीए	अविणीए
पृ० ५४	श्लो० ९५	गा० २२	गा० २१X

चाउरंगिज्ज-सुत्त

पृ० ५६	श्लो० ९७	संसार	ससारे
,,	श्लो० ९९	–पयेगो	–पयंगो
पृ० ६०	श्लो० १०६	निध्दुंणे	निद्धुणे
पृ० ६१	श्लो० १०८	श्रेठ	श्रेष्ठ

अप्पमायसुत्त

पृ० ६४	श्लो० ११२	अणतमोहे	अणंतमोहे

पृ० ६६	श्लो० ११४	ने	न
पृ० ७०	श्लो० १२१	तहप्पागारेसु	तहप्पगारेसु
पृ० ७२	श्लो० १२५	बहुपच्छवायए	बहुपच्चवायए
,,	,,	पमाय	पमायए
,,	श्लो० १२६	गाढाय	गाढा य
पृ० ७६	श्लो० १३५	—मइखओ	—मइगओ

पमायट्ठाणसुत्त

पृ० ८६	श्लो० १५६	कएण	कएण दुक्खं
पृ० ९०	श्लो० १६१	पमोक्खग्मगो	पमोक्खमग्गो

कसायसुत्त

पृ० ९४	श्लो० १६८	कोहण	कोहेण

कामसुत्त

पृ० १००	श्लो० १७७	गा० ४९	गा० ३९
,,	श्लो० १७९	गा० ११	गा० १२

असरणसुत्त

पृ० १०४	श्लो० १८५	पसवो न	पसवो य
पृ० १०४	श्लो० १८७	असुइसंभवं	असुइसंभवं
पृ० १०८	श्लो० १९७	लासा	भासा
,,	,,	विज्जाणु सासणं	विज्जाणुसासणं
,,	,,	गा० १०	गा० ११

वालसुत्त

पृ० ११०	श्लो० १९९	चक्खुविद्धा	चक्खुदिट्ठा
पृ० ११४	श्लो० २०७	चूलिका	चूलिका १
,,	श्लो० २०९	अ० १०	अ० १७
पृ० ११६	श्लो० २१२	गा० २८	गा० १४
पृ० ११६	श्लो० २१४	पडियाणं	पंडियाणं

पंडियसुत्त

पृ० १२२	श्लो० २२२	विट्ठभए	दिट्ठभए
,,	श्लो० २२५	- सोक्ख	—सोक्खं
पृ० १२३	श्लो० २२६	एकाग्रचित्त	एकाग्रचित्तसे

अप्पसुत्त

पृ० १३०	श्लो० २३९	पायलेन्ति	पयालेन्ति
,,	,,	उन्वेन्ति	उवेन्ति
,,	,,	गा० ११	गा० १७
,,	२४०	अप्पा हु खलु	अप्पा खलु
,,	२४१	गा० १३	गा० ७३

लोगतत्तसुत्त

पृ० १३२	श्लो० २४५	वत्तना	वत्तणा
पृ० १३४	श्लो० २५०	जाइण	जाणइ
,,	श्लो० २५१	तहो तहा	तवो तहा

पृ० १३४	श्लो० २५३-२५४	कल्माई	कम्माइ
पृ० १३६	श्लो० २५८	क्रिण्णा	क्रिण्हा
पृ० १३७	श्लो० २५७	वैयावृत्य	वैयावृत्त्य
,,	श्लो० २५८	पद्म	पद्म
,,	श्लो० २६०	पद्म	पद्म
पृ० १३८	श्लो० २६४	उतरा०	उत्तरा०

पूज्य सूत्र

पृ० १४१	श्लो० २६५	सुनों	सुनें

ब्राह्मणसूत्र

पृ० १४९	श्लो० २८०	बिना चोरी	बिना चोरीसे

भिक्षुसूत्र

पृ० १५३	श्लो० २८९	प्रवचनों	प्रवचनों
पृ० १५५	श्लो० २९३	आक्रोष	आक्रोश
पृ० १५६	श्लो० २९६	सवसंगावगए	सव्वसंगावगए

मोक्खमग्गसुत्त

पृ० १६४	श्लो० ३१५	संवरमुक्किट्टं	संवरमुक्किट्ठं
,,	,,	अवेहिकलुसं	अवेहिकलुसं
पृ० १६५	,,	अज्ञानका लिमाजन्य	अज्ञानकालि-माजन्य

विवादसुत्त

पृ० १७२	श्लो० ३२७	नथिथ	नत्थि

पृ० १७८	श्लो० ३३५	जगहेतुवावो	जगहेतुवाओ
पृ० १७९	,,	जगत्कर्तृत्ववाद	जगत्कर्तृत्ववाद

खामणासुत्त

पृ० १८२	श्लो० ३४२	मावओ	भावओ
,,	श्लो० ३४३	सव्वस्व	सव्वस्स
,,	श्लो० ३४४	आयरि अ	आयरिअ
,,	श्लो० ३४५	वंदित्तु सू	वंदित्तु सू०

[कृपया पन्ना उलटिए]

परिशिष्टों की अशुद्धियाँ

पृ० १६	२७९	के स्थान में	२८८
पृ० २२	३३३	,, ,,	३३२
पृ० ,,	१९२	,, ,,	२९२
पृ० २४	१४३	,, ,,	१०३
पृ० २५	६५	,, ,,	९५
पृ० २७	२५४	,, ,,	२५८

['गाथाओं का अक्षरानुक्रम' वाले परिशिष्ट में गाथाओं के कई पद्य अशुद्ध छपे हैं, अंक देखकर उन्हें शुद्ध करलें] ['मूल स्थलों का निर्देश' वाले परिशिष्ट मे अंक की शुद्धि को शुद्धि-पत्र से समझें]

पृ० २९	खाहिम	के स्थान में	खादिम
पृ० ३०	मलका	,, ,,	मल
पृ० ३२	सातपुत्र	,, ,,	ज्ञातपुत्र
पृ० ३२	शब्दघाले	,, ,,	शब्दवाले
पृ० ३४	स्वतत्र	,, ,,	स्वतंत्र